जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 11 • नवंबर, 2006

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001

Phones : 242-6141/9857/9426/9923

Fax : 91-33-2422004

e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVE T
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 • नवंबर, 2006 • अंक 11

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अहिंसा : कुछ अपेक्षाएं

16
डॉ. सागरमल जैन
वैश्विक समस्याएं और जैन दृष्टि

24
बालकोबा भावे
ब्रह्मचर्य : सर्वेंद्रिय संयम

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

29
मुनि मदनकुमार
अनशन : निर्ममत्व और अभय की साधना

35
साध्वी मुदितयशा
पालनहार मां : कर्णधार बच्चा

39
मुनि शुभकरण
अलौकिकता : अनंत आत्म-शक्ति

43
कहानी
नवनीता देवसेन
दुलाल की कहानी

46
कविता
हरीश भादानी की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
बचपन की सामाजिकता

शीलन

49
मुनि धर्मेश
संथारा : जीवन-मरण महत्त्वहीन

51
साध्वी नगीना
आवश्यक सूत्र

55
बालकथा
शंकर
नमक की मिठास

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

घी सहित घाट वापस ले ली

संवत् 1855 आषाढ़ मास की घटना है। स्वामीजी बहुत साधुओं और साध्वियों के साथ विराज रहे थे। साध्वी अजबूजी गोचरी के लिए गईं। किसी ने घी का दान दिया। दूसरे घर में एक बहिन ने 'घाट' (दलिया) का दान देकर पूछा—'तुम किस टोले की साध्वी हो?'

तब साध्वी अजबूजी ने कहा—'हम भीखणजी स्वामी के टोले की हैं।'

तब वह बहिन बोली—'पिछली बार भी तुम मेरे घर से रोटी ले गई थी। (आज फिर आ गई) मेरी 'घाट' मुझे वापस दे दो।' यह कहकर वह घाट वापस लेने लगी, तब एक व्रजवासिनी ने उसे बरजा—'हे कीकी! 'अतीत' साधु को दिया हुआ दान वापस मत ले।'

तब वह बोली—'कुत्तों को खिला दूंगी, पर इसके पास से तो वापस ले लूंगी।' यह कहकर उसने जबरदस्ती वह घाट घी सहित वापस ले ली।

अजबूजी ने स्वामीजी के पास आकर यह सारी घटना सुनाई।

तब स्वामीजी बहुत विमर्श कर बोले—'यह कलिकाल है। इसमें ऐसा हो सकता है। कुछ लोग दान नहीं देते, कुछ लोग देने से इंकार कर देते हैं और कुछ लोग जानबूझ कर अशुद्ध (जिसके हाथ से भिक्षा ग्राह्य नहीं होती, वैसे) हो जाते हैं। परंतु दान देने के बाद वापस लेने की बात पहले नहीं सुनी। यह तो कोई नई बात हुई है।'

व्रजवासिनी ने इस बात को गांव में फैला दिया।

उस (कीकी) के पति को लोग कहने लगे—'दूकान पर तो तुम कमाते हो और घर में तुम्हारी स्त्री कमा रही है।' यह सुनकर वह भी मन में लज्जित होता है। कुछ दिनों बाद 'रक्षा-पूर्णिमा' के दिन अकस्मात् उसका पुत्र चल बसा। और कुछ दिनों बाद 'कीकी' का पति भी मर गया। तब शोभजी श्रावक ने एक तुक्का रचा—

'तू बादरशाह की पुत्री है। कीकी तेरा नाम है।
तूने घी सहित घाट वापस ले ली, पात्र को खाली कर दिया।'

पछतावा

कुछ समय बाद उसी बहिन (कीकी) के घर साधु गोचरी गए। वह साधुओं को देने लगी। साधुओं ने पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

तब वह बोली—'मैं वही पापिनी कीकी हूं, जिसने साध्वियों के पात्र से घाट वापस ली थी। कोई तो पाप का फल परभव में देखता है, मैंने तो वह इसी जन्म में देख लिया।' यह कहकर वह पछताने लगी। •

भाव-ऋजुता से तात्पर्य है—जैसा भीतर, वैसा बाहर। यानी भीतर-बाहर की एकरूपता। सत्य भाषण के साथ व्यक्ति के विचारों में सरलता होनी चाहिए। विचारों की सरलता न होना ही माया है। माया असत्य का दूसरा नाम है। इसलिए इस बात को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि जहां सरलता है, ऋजुता है—वहां सत्य है। सत्य का व्यापक रूप ही ऋजुता है। सत्य-साधक को तीनों प्रकार की ऋजुता की समान रूप से साधना करनी चाहिए।

साधना के लिए संकल्प आवश्यक है। सत्य-साधक संकल्प करे—अहं अनृतात् सत्यमुपैमि—मैं असत्य को छोड़ सत्य को स्वीकार करता हूं। उसमें मेरा अटूट विश्वास है। यह एक अनुभूत सत्य है कि दृढ़ निष्ठावान व्यक्ति ही साधना में सफल हो पाता है और संकल्प के बिना निष्ठा घनीभूत नहीं होती।

—आचार्यश्री तुलसी

दुनिया में शरीर से काम करने वाले अनेक लोग हो सकते हैं, पर दिशा-निर्देशन देने वाले सब नहीं हो सकते। निर्देशानुसार अन्य लोग काम करते रहते हैं। निर्देष्टा बनना कोई सामान्य बात नहीं होती। बहुश्रुत मुनि भी एक प्रकार से निर्देष्टा ही होते हैं। उनका शारीरिक श्रम कम हो सकता है, किंतु दिमागी श्रम बहुत होता है। उनका मस्तिष्क सक्रिय रहता है। वे नए-नए रहस्यों को खोजते रहते हैं। उनके द्वारा खोजे गए एक-एक रहस्य संघ के लिए, संसार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। एक सामान्य मुनि भी ज्ञानार्जन के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे, पढ़ने-पढ़ाने, चिंतन और मनन में लगा रहे तो वह बहुश्रुत्य की दिशा में विकास कर सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

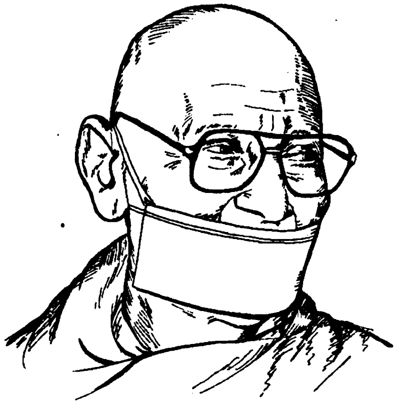

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है—इस अवधारणा ने हिंसा को उच्छृंखल बना दिया है—'मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'—इसका आशय यही हो सकता है कि उसे जैसा शरीर, मानसिक-बौद्धिक विकास मिला है—वैसा किसी अन्य प्राणी में नहीं है। इसका फलितार्थ यह नहीं हो सकता कि वह श्रेष्ठ है। अतः जो-कुछ किया जाए—वह क्षम्य है, उचित है। आज के वैज्ञानिक जगत का अभ्युपगम यह बना हुआ है कि मनुष्य को बचाने के लिए सब-कुछ किया जा सकता है। सब-कुछ करने में औचित्य का कोई अतिक्रमण नहीं है।

क्या इस जगत में केवल मनुष्य का ही अस्तित्व है? क्या अकेला मनुष्य जी सकता है? विकसित होने का अर्थ अविकसित का शोषण और उत्पीड़न नहीं है। उसका अर्थ है—इच्छा और अपेक्षाओं का संयमन।

भगवान महावीर ने कहा—अविकसित प्राणी विवेक नहीं कर सकता। मनुष्य विकसित है, इसलिए उसमें विवेक करने की क्षमता है। वह हिंसा को जीवन की नियति मानता हुआ भी उससे बच सकता है। महावीर ने हिंसा की समस्या को दो स्तरों पर देखा। हिंसा का एक स्तर है—अर्थ-हिंसा और दूसरा स्तर है—अनर्थ-हिंसा—'अट्ठा दंडे अणट्ठा दंडे।'

हिंसा अनुपादेय है, उसे छोड़ो। उसे छोड़कर जी नहीं सकता—इस चिंतन से मन आंदोलित हो उठा। जिज्ञासा की—भंते! हिंसा को छोड़कर मैं जी नहीं सकता? आचार्य बोले—'तुम्हारे मन में जीने की आकांक्षा है। क्या हिंसा की भी आकांक्षा है?'

'नहीं, बिलकुल नहीं।'

'तो इतना-सा करो—जीने के लिए जो जरूरी नहीं, वैसी हिंसा को छोड़ दो।'

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

बचपन की सामाजिकता

बच्चों के लिए सोचना और उनके लिए काम करना जितना जरूरी है उतना ही जटिल भी। हमारे समाज की मनीषा ने न मालूम क्यों बच्चों के लिए गंभीरता से नहीं सोचा, जबकि वे इसे आवश्यक जरूर मानते रहे। बाल-मन पर समग्र रूप से चिंतन-मनन और क्रियाशील रहने वालों में गिजुभाई (गिरिजाशंकर बधेका) प्रमुख हैं। उन्होंने बच्चों के शिक्षण से लेकर उनके साथ होने वाले व्यवहार, माता-पिता और घर-बाहर के बर्ताव पर न केवल लिखा, प्रयोग करके सिद्ध करने की कोशिश भी की कि बच्चों—जो आने वाले समय के स्तंभ होने वाले हैं—के साथ बड़ों का कैसा व्यवहार होना चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू और इस समय हमारे राष्ट्रपति जनाब अवुल पकीर जैनुलाबदीन अब्दुल कलाम का बच्चों के प्रति लगाव जगजाहिर है। यह सब है; तब भी हमारे यहां बचपन न केवल उपेक्षित है, हमारा समाज बच्चों के प्रति कितना सजग है—हम देख सकते हैं।

वर्ष 2001 की जनगणना के आधार पर छः वर्ष तक के बच्चों की आबादी 15,78,63,145 मानी गई है। यह संख्या कुल आबादी का 15.42 फीसदी है। ग्रामीण समुदाय और सर्वथा असहाय वर्ग को एक बार छोड़ दें और नगरीय, उच्च व मध्यम तथा उच्च अल्प आय वर्ग को देखें तो हमें लगेगा कि इस वर्ग के बच्चों पर जो प्रभाव अभी से पड़ने लगे हैं, वे उनके मानस पर क्या असर छोड़ रहे हैं और उनके भविष्य की दशा किस तरह की होने वाली है। इसके लिए शिक्षा प्रबंधन से कहीं अधिक उत्तरदाई हैं बच्चों के माता-पिता और अभिभावकगण। सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां और हमारा ढांचागत विकास भी इसके लिए उत्तरदाई है और इस तरह नीति-निर्धारकों का दायित्व कहीं अधिक आ ठहरता है, पर बुनियादी तौर पर तो इस उम्र के बच्चों के मानसिक दबावों-प्रभावों के लिए माता-पिता और अभिभावक ही जिम्मेदार कहे जाएंगे। इस मत की पुष्टि के लिए हमें आज की लुभावनी तकनीक और बाजार पर गौर करना चाहिए।

खिलौनों की दूकानें आजकल किस तरह के खिलौनों से अटी पड़ी हैं? कोई बच्चा जब उनको देखकर लेने को मचल उठता हैं, तब विचारवान माता-पिता का विवेक भी धरा रह जाता है। आर्थिक तौर पर थोड़े-से ठीक-ठाक परिवार भी महंगे खिलौने खरीद लेने में नहीं झिझकते। अनेक घर ऐसे खिलौनों से भरे मिल सकते हैं जो बच्चों के मन-बहलाव के साथ उनमें हिंसा और मार-धाड़ के बीज भी पैदा कर डालते हैं। बाजार में बिकने वाले खिलौने और उनके नाम और उनके दाम जिस तरह का विभेद, वैमनस्य और हिंसक वृत्ति बाल-मन में पैदा करते हैं, उनके प्रति माता-पिता या अभिभावक—कोई भी सजग नहीं है। शिक्षा और बाल-मनोविज्ञान को जानने-समझने वाले कुछ विचारशील लोग सचेत भी करते हैं, पर नीति-निर्धारकों का ध्यान उनकी बातों की ओर जाता ही नहीं है। यही वजह है कि

खिलौनों के बाजार बेधड़क नित-नए साजो-सामान के साथ सजते रहते हैं। बाजार इस तरह के खिलौनों से तो अटे पड़े ही हैं, खाने-पीने की ऐसी सामग्री की भी भरमार है जो बच्चों को ललचाती है और जानते हुए भी कि यह खाना बच्चों के लिए हानिकर है, मां-बाप असहाय प्रतीत होते हैं।

यह सब तो है ही, यह भी है कि अब बच्चे घर से बाहर, हमउम्र बच्चों के साथ, खेल के मैदान या समूह में खेलने में रुचि नहीं रख रहे। कोई समय था जब एक किशोर या सात-आठ साल का बालक स्कूल से घर पहुंचने के बाद जब फिर घर से बाहर निकलता तो उसके लिए सर्वाधिक आकर्षण वे खेल और साथी-संगी ही होते थे, जिन पर न कुछ खर्च करने की जरूरत होती और न किसी औपचारिक प्रबंध की। तब सब-कुछ सहज होता और यहीं से उनमें समूह व सामाजिकता का बीजवपन हो जाता। बचपन की ऐसी सामाज़िकता किशोर और युवावस्था तक इतनी मजबूत हो जाती कि उनका नागरिक जीवन सहभागिता और सह-अस्तित्व का सशक्त पुंज बना प्रतीत होता। आज स्थिति उलट है। माहौल के बदलाव ने बच्चों को एकाकी बना डाला है। इसी एकाकीपन में बचपन खो गया है। खो तो गया ही है, वह नष्ट भी हो रहा है।

क्या माता-पिता ही ऐसे माहौल के लिए उत्तरदाई नहीं हैं? बच्चों के लिए 'वीडियो गेम्स' जुटा कर माता-पिता मानने लगे हैं कि वे एक बड़ी जह्मत से मुक्त हो गए हैं। बच्चे उनमें इतने डूब जाते हैं कि शेष दुनिया का कोई मानी उनके लिए बचता ही नहीं। वे परिवार, जो थोड़े संपन्न हैं—अपने बच्चों के लिए कंप्यूटर भी जुटा देते हैं। ऊंचे स्कूलों में कंप्यूटर शिक्षण का दूसरा लाभ मिले-न-मिले, कंप्यूटर के खेलों में तो बच्चे दक्ष हो ही जाते हैं। वे माता-पिता, जो अपने काम-काज और दैनंदिन में अनथक व्यस्त रहते हैं, बच्चों पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते। वे कभी देख ही नहीं पाते कि उनका बेटा या बेटी आखिरकार किस तरह और कैसे काम में समय गुजारता है। कई तरह के अध्ययन बताते हैं कि ऐसे किशोर-किशोरियां भिन्न-भिन्न बीमारियों व हिंसक मनोदशाओं से ग्रस्त हो उठते हैं। यही नहीं, 'वीडियो गेम्स' की दूकानें तो अब जुआघर भी बन रही हैं। दिल्ली के कुछ क्षेत्रों में पुलिस को शिकायत मिली है कि 'वीडियो गेम्स' की दूकानों में जुआ खेलने के लिए बच्चों को उकसाया जाता है। जो माता-पिता अपनी स्वतंत्रता के लिए बच्चों के प्रति इस तरह बेफिक्र हो जाते हैं, यह सोचना जरूरी है कि आखिरकार अपने दायित्वों से च्युत होने के साथ ही साथ वे समाज का भी कितना बड़ा अहित कर रहे हैं। जिस सामाजिकता की उम्मीद बचपन में ही की जाती रही है, ऐसे हालातों में वह उम्मीद तो नष्ट हो ही रही है, एक तरह की घृणा और गैर-बराबरी की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है।

हमें मानना होगा कि 'बचपन की सामाजिकता' की बात केवल बच्चों तक सीमित न रहकर इसका व्यापक असर और दायरा दिखाई दे रहा है और इसलिए यह जरूरी है कि समाज के विचारशील जन उन सब बातों पर गहन चिंतन करें जो हमारे भविष्य की आधार कही-मानी जाती हैं। इस लिहाज से यह भी जरूरी हो जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र में बाल-शिक्षाविदों से लेकर सामाजिक स्तर पर समाजकर्मियों को भी इन पक्षों पर विचार करना चाहिए। समाज पर आज भी धर्म-संस्थानों का प्रभाव और पकड़ सर्वाधिक है। अतः यह अपेक्षा सर्वथा उचित मानी जाएगी कि विभिन्न स्तरों पर कार्यरत धर्म-संगठन और उनके अधिष्ठाता न केवल किशोर और बालवय पर अपनी दृष्टि केंद्रित करें, माता-पिताओं व अभिभावकों पर भी नजर डालें, जो उनके प्रभाव-क्षेत्र में हैं।

हम लोग हर वर्ष बाल-दिवस मनाते हैं, इस बार भी ऐसा होगा ही। राष्ट्रीय स्तर पर इसकी महत्ता है, क्योंकि यह दिन पं. जवाहरलाल नेहरू का जन्मदिन है। यह उचित ही होगा कि इस बार बाल-दिवस पर उन मुद्दों पर चर्चा हो, जिनकी ओर हमने संकेत किए हैं। इस दिशा में 'अणुव्रत आंदोलन' हमारे लिए मार्ग-दर्शक भूमिका अदा कर सकता है। अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी ने तत्समय की परिस्थितियों के चलते इस आंदोलन के लिए जो सूत्र दिए थे, आज के हालातों में उनमें पुनर्चिंतन करने की जरूरत महसूस हो तो वह भी होना चाहिए। इस आंदोलन के वर्तमान नियंता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जहां बाल-मन की गहराइयों और उसकी सामाजिकता के महत्त्व को समझ सकते हैं, वहीं अभिभावकों और माता-पिताओं के लिए भी समसामयिक दिशा-बोध प्रवर्तित कर सकते हैं। अणुव्रत आंदोलन में किशोरों, युवकों व बड़ों—सभी के लिए कुछ नियामक सूत्र हैं। बदली हुई आज की परिस्थिति में उनका सम्यक् रूप आवश्यकतानुसार निर्धारित किया जा सकता है। बाल-दिवस के अवसर पर ऐसी अपेक्षा स्वाभाविक और समीचीन है।

—शुभू पटवा

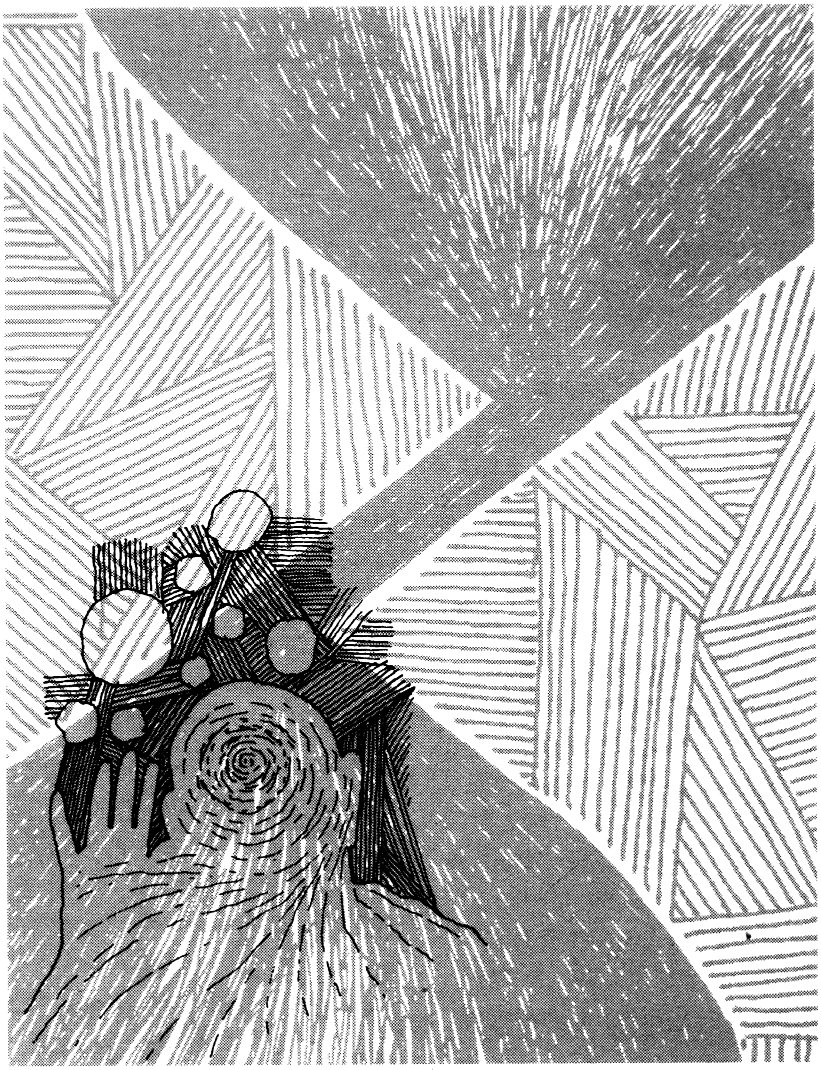

विमर्श

बुद्धिजीवियों की एक आदत होती है इंतजार करने की। इस इंतजार में वह तात्त्विक धैर्य होता है कि अगर वे कुछ करें नहीं, तो कम-से-कम इंतजार करें। लेकिन वह वक्त आता है जब प्रतीक्षा भी प्रतिध्वनियों की तरह लगती है, जो कहती है कि इतिहास हमको इतना समय देगा ही नहीं कि हम इंतजार भी कर सकें।

—विजयदेव नारायण साही

अहिंसा : कुछ अपेक्षाएं

❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अहिंसा धर्म है। व्यवहार की भाषा में वह पवित्र आत्मा में उद्भूत होती है। उत्तराध्ययन सूत्र (3/12) में कहा है—'धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है।' निश्चय की भाषा में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही पवित्रता है और वही अहिंसा है। स्वाभाविकता का चरम रूप विदेह-दशा में प्रकट होता है। यह सिद्ध-दशा है। साधना-काल में स्वाभावोन्मुख प्रवृत्ति होती है, वह अहिंसा है। उसका दूसरा नाम है—मोक्ष-मार्ग। मोक्ष के चार साधन हैं—1. ज्ञान, 2. दर्शन (श्रद्धा), 3. चारित्र और 4. तप।

पदार्थों की जानकारी मात्र से न बंधन होता है और न मुक्ति। ज्ञान सत्य का हो चाहे असत्य का, वह स्वभावतया निरवद्य होता है। मन, वाणी और कर्म के साथ संयुक्त होकर वह क्रियात्मक दृष्टि से सावद्य और निरवद्य—दोनों बनता है। मोहरंजित मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान सावद्य होता है और मोहविमुक्त मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान निरवद्य। क्रियात्मक निरवद्य ज्ञान आत्म-मुक्ति का साधन बनता है।

अहिंसक की दृष्टि अंतर्मुखी होनी चाहिए। बहिर्मुखी दृष्टि वाला व्यक्ति बुराई करते समय 'कोई देख न ले'—इस तरह बचाव करता है, अपना बचाव नहीं करता। इससे बुराई गूढ़ बन जाती है। प्रकट रोग से छिपा रोग और अधिक जटिल होता है। दृष्टि अंतर्मुखी होने पर व्यक्ति का सहज प्रयत्न बुराई से बचने का होता है, फिर चाहे कोई देखे या न देखे। दिन और रात, एकांत और सहवास, शयन और जागरण में जिसका हिंसा से बचने का समान प्रयत्न हो, थोड़ा भी अंतर न आए, वही व्यक्ति अहिंसा या अंतर्मुखी दृष्टि वाला है। बुराई में जिसको अपना अनिष्ट दीख पड़े, वही व्यक्ति बुराई को छोड़ सकता है। लज्जा, भय या अनुशासन के द्वारा बुराई गूढ़ बन जाती है, मिटती नहीं।

दो किस्तों में समाप्य आलेख की आखिरी कड़ी

अध्यात्मशास्त्र में इसी को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। सत्य की रुचि का नाम है—श्रद्धा। मिथ्या विश्वास हिंसा का ही रूप है। उससे आत्मा आवृत होती है। जैसे—जाति-विशेष को अछूत समझना, उससे घृणा करना मानसिक व्यामोह है। इसी तरह पुत्र पैदा किए बिना स्वर्ग नहीं मिलता, युद्ध में मरने वाला स्वर्ग जाता है, सारी सृष्टि मनुष्य के भोग के लिए है, वह सर्वोत्तम प्राणी है आदि-आदि मिथ्या विश्वास हैं।

अपुत्र की गति नहीं होती, युद्ध में मरने वाला स्वर्ग जाता है—ये सामयिक अपेक्षाएं हो सकती हैं, अहिंसा-धर्म नहीं।

वैदिक विचार[1] से जैन विचार का यह मौलिक भेद है[2]। मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है—यह सही है। सर्वोत्तम के लिए अल्पोत्तम की उपेक्षा की जाए—यह गलत है, हिंसा की दृष्टि है।

हिंसा का अनिरुद्ध स्रोत चलता है, उसका आधार यही है कि मनुष्य अपने-आप को सबसे ऊंचा मानता है। मनुष्य-हित के लिए सब-कुछ किया जाना उचित है—इस मिथ्या

धारणा के बल पर वैज्ञानिक प्रयोगों की वेदी पर लाखों-करोड़ों जीवों की बलि चढ़ती है। जीने का अधिकार सबको है। सुख-दुख की अनुभूति सबको है। जीवन प्रिय और मृत्यु अप्रिय सबको है। इसको भुलाकर मूक जीवों की निर्मम हत्या करने वाले एक महान सत्य से आंखें मूंदते हैं। खाद्य और विलास के लिए भी बड़ी-बड़ी हिंसाएं चलती हैं। सारी सृष्टि मनुष्य के लिए ही है। यदि पशु न मारे जाएं तो वे सारी जमीन पर छा जाएं—ऐसी धारणाएं हैं। उन्हें उखाड़ फेंके बिना जीव-दया का मूल्य नहीं बढ़ेगा। इस तरह की धारणाएं उचित नहीं।

चारित्र का अर्थ है—विरति या संयम। यह आत्म-शोधन की निरोधात्मक प्रक्रिया है। इससे पूर्व-मालिन्य का शोधन नहीं होता, किंतु भविष्य के मालिन्य का निरोध होता है। आत्मा नए सिरे से अशुद्ध नहीं बनती।

पूर्व-मल-शोधन की प्रक्रिया तप है। जितनी भी निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति है, अथवा मन, वाणी और कर्म का जितना भी अहिंसात्मक व्यापार है—वह सब तपस्या है। ये चारों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) समुदित दशा में मुक्ति के साधन हैं। अतः इन चारों की समष्टि ही अहिंसा का समग्र रूप है।

स्वास्थ्य-साधना

अहिंसक की वृत्तियां आवेग रहित होनी चाहिए। आवेग हैं—1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ, 5. चुगली, 6. निंदा, 7. आरोपकरण, 8. घृणा-तिरस्कार, 9. कलह, 10. पक्ष का आग्रह और 11. भय।

शारीरिक वेग दूसरी कोटि के हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से शारीरिक वेग (मल, मूत्र आदि का वेग) नहीं रोकना चाहिए। उनका वेग रोकने से स्वास्थ्य की हानि होती है। किंतु, इन मानसिक आवेगों को रोकने के बारे में आयुर्वेद और धर्मशास्त्र, दोनों एकमत हैं। जैसे—1. अहिंसक को क्रूर नहीं होना चाहिए। क्रोध क्रूरता लाता है, प्रेम का नाश करता है। 2. अहिंसक नम्र होगा, उद्दंड नहीं।

दूसरों को तुच्छ समझने की भावना हिंसा है। जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और तप—ये आठ मद हैं। अहिंसक को इनका अहंकार नहीं करना चाहिए। उद्दंडता से विनय नष्ट हो जाता है। उद्दंडता जैसे हिंसा है, वैसे गुलामी और हीनभावना भी हिंसा है। अहिंसा का मर्म मध्यस्थ वृत्ति या संयम है। सफलता में उत्कर्ष और असफलता में अपकर्ष—ये दोनों नहीं होने चाहिए। दोनों में सम रहना अहिंसा है। लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान में जो समवृत्ति होता है, वही अहिंसक है।[3]

अहिंसक में विवेक होता है, इसलिए वह लाभ और अलाभ को सम नहीं मानता। किंतु, उसमें आत्माभिमुखता होती है, इसलिए वह दोनों स्थितियों में अपनी वृत्तियों को सम रख सकता है। अहिंसा आत्म-निष्ठा की उपासना है। हीनभावना के त्याग के लिए आत्मा की उपासना परम-तत्त्व के रूप में होती है—'जो परम तत्त्व है, वह मैं हूं।' अहंकार-त्याग के लिए उसकी उपासना समता के रूप में होती है—'आत्मा मात्र समान है।'

अहिंसक को काय-ऋजु, भाषा-ऋजु होना चाहिए। उसके शरीर, वाणी और मन का व्यापार सरल होना चाहिए। वक्रता हिंसा है। माया भी हिंसा है। इससे मैत्री का नाश होता है।

पदार्थों के लिए या उनके व्यवहार में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति और असंतोष हिंसा हैं। ये सद्गुणों का नाश करते हैं।

परोक्ष में बुराई करना चुगली और सामने बुराई करना निंदा है। अहिंसक बुराई को मिटाना चाहता है, इसलिए वह दूसरों की बुराई कर नहीं सकता। बुराई का प्रकाशन करने से बुरा, भला नहीं बनता। बुरे को सुधारने का उपाय है—उसके हृदय में बुराई के प्रति ग्लानि उत्पन्न कर देना।

दूसरों पर आरोप लगाना, लड़ना-झगड़ना, घृणा करना—ये सब मानसिक असंतोष के परिणाम हैं।

पक्ष का आग्रह मिथ्याभिमान का परिणाम है।

भय हिंसा का कार्य और कारण दोनों है। भय से हिंसा-वृत्ति उत्पन्न होती है और हिंसा से भय बढ़ता है। संस्कारी दशा में वृत्तियों की दशा बदलती है, उनका उन्मूलन नहीं होता।

आवेगों के नियंत्रण से निम्न वृत्तियां फलती हैं—1. क्षमा या क्रोध का उपशम, 2. नम्रता या मृदुता, 3. ऋजुता, 4. अनासक्तभाव और संतोष, 5. पर-गुण-ग्राहकता, 6. स्व-श्लाघा-वर्जन, 7. स्व-दोष-दर्शन, 8. प्रेम या मैत्री, 9. शांति, 10. सत्यग्राही दृष्टि और 11. अभय।

यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त वृत्तियां उनके नियंत्रण के साधन हैं। बुराई से बुराई को मिटाने की बात हिंसा का सिद्धांत है। जैसे आग से आग नहीं बुझती, वैसे

ही क्रोध से क्रोध नहीं मिटता। क्रोध की विजय का उपाय है—अक्रोध या उपशम। अहिंसक को धीर, गंभीर और शांत होकर वेगात्मक वृत्तियों पर विजय पानी चाहिए। आवेग-मुक्ति, भय-मुक्ति, वासना-मुक्ति और व्यसन-मुक्ति होने से रोग-मुक्ति स्वयं हो जाती है। आवेग-विजय का अर्थ है—स्वास्थ्य, स्वस्थता, आत्म-स्थिति।

अहिंसा का विवेक

अहिंसा की साधना कठोर है, इसलिए उसके साधक को कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक है। भगवान महावीर ने कहा—'दैहिक कष्टों को सहनशीलतापूर्वक सहने से महान फल होता है।'[4] इसका यह अर्थ नहीं कि कष्ट ही कष्ट सहते रहना चाहिए। अहिंसा का सिद्धांत है—हिंसा पर विजय पाने के लिए जितना कष्ट सहना पड़े, वह सब सहा जाए। इसी सिद्धांत के आधार पर तपस्या का विकास हुआ। इंद्रिय और मन को जीते बिना अहिंसा जीवन में नहीं आ सकती। इनकी विजय के लिए बाह्य वस्तुओं—विषयों का त्याग आवश्यक है। वही तपस्या है। उससे बाह्य वस्तुओं का संबंध छूट जाता है; फिर भी उनकी वासनाएं शेष रह जाती हैं। उन्हें निर्मूल करने के लिए ध्यान है। वह भी तपस्या है। पहली बाह्य तपस्या है और दूसरी अंतरंग। एक से बाह्य-शुद्धि होती है और दूसरी से अंतरंग-शुद्धि।

वस्तु-त्याग के रूप हैं—

1. **अनशन**—खान-पान का त्याग, एक दिन के लिए या उससे अधिक।
2. **ऊनोदरिका :**
   1. खान-पान में कमी, भूख से कम खाना, कम चीजें खाना आदि।
   2. क्रोध आदि की कमी करना।
3. **वृत्ति-संक्षेप**—जीवन-निर्वाह के साधनों का संक्षेपीकरण।
4. **रस-परित्याग**—सुस्वादु व गरिष्ठ भोजन का त्याग या सीमाकरण।
5. **काय-क्लेश**—आसन आदि के द्वारा शरीर को साधना। अहिंसा की साधना में आने वाले कष्टों को सहना।
6. **प्रतिसंलीनता :**
   1. इंद्रियों के विषयों का त्याग।
   2. क्रोध आदि का त्याग—अनुदित क्रोध का त्याग और उदित क्रोध का विफलीकरण।
   3. अकुशल मन, वाणी और कर्म का निरोध; कुशल मन, वाणी और कर्म की उदीरणा।
   4. विकारहेतुक मकान और आसन का त्याग।

इसी तरह जीवन के अंतर-शोधन की प्रक्रिया के तत्त्व निम्नानुसार हैं—

1. **प्रायश्चित्त**—किए हुए पापों की आलोचना।
2. **विनय**—मन, वाणी और कर्म की नम्रता।
3. **वैयावृत्य (सेवा)**—अपनी शक्तियों का दूसरे के निःश्रेयस् के लिए व्यापार।
4. **स्वाध्याय**—मुक्तिकारी विद्या का अध्ययन, मनन, चिंतन।
5. **ध्यान**—मन की वृत्तियों का स्थिरीकरण।
6. **व्युत्सर्ग**—शरीर का स्थिरीकरण या शरीर और चेतन के भेद का ज्ञान।

वस्तुओं का त्याग व्यावहारिक या स्थूल होता है, वासनाओं का त्याग आंतरिक या सूक्ष्म। आंतरिक शोधन के लिए विकार के बाहरी साधनों का वर्जन आवश्यक है। यह साध्य की सिद्धि नहीं है। उसकी सिद्धि, आंतरिक वासनाएं, जो गहरी जड़ें जमाए हुए हैं, उनके निर्मूलन से होती है।

खाद्य-विवेक

खान-पान के बिना जीवन नहीं टिकता, इसलिए वह जीवन की मुख्य प्रवृत्ति है और वह हिंसक तथा अहिंसक, दोनों के लिए समान है—जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से, फल की दृष्टि से नहीं। अहिंसा की साधना देह-मुक्त की साधना है, इसलिए उसमें देह-पोषण की बात मुख्य नहीं होती। 'अहिंसा अखंड रहे, देह भले छूट जाए'—अहिंसक ऐसा व्रत लिए चलता है। अहिंसा में आपद्-धर्म का कोई स्थान नहीं है। देह को टिकाए रखने की भावना मुख्य बनते ही अहिंसा गौण हो जाती है।

जीवन टिका न रहे तो अहिंसा की साधना कैसे हो? कौन करे? इसलिए अहिंसा की साधना करने के लिए जीवन को बनाए रखना आवश्यक है। जीवन को बनाए रखने का मुख्य साधन खान-पान है। इस दशा में खान-पान की हिंसा, अहिंसा का ही एक अंग बन जाती है—इस कोटि का चिंतन भी प्रस्तुत किया जाता है। किंतु, यह अहिंसा की मर्यादा के प्रतिकूल है। भविष्य की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अपना रूप नहीं त्यागती—अहिंसा के लिए की जाने वाली हिंसा अहिंसा नहीं बनती। 'मुनि

अपने जीवन की सब प्रवृत्तियों में अहिंसा का विचार लिए चलता है। वह खान-पान के लिए भी हिंसा नहीं करता।' अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेता। उसकी भिक्षा नव-कोटि-परिशुद्ध होती है।

गृहस्थ के लिए इतना कठोर व्रत संभव नहीं। उसकी भूमिका भिक्षावृत्ति की नहीं होती। भिक्षा तीन प्रकार की होती है—1. पौरुषघ्नी, 2. वृत्तिघ्नी, 3. सर्वसंपत्कारी।

कार्य करने में समर्थ गृहस्थ भीख मांगता है—वह 'पौरुषघ्नी भिक्षा' है। यह समाज की निम्नदशा का चिह्न है। अपंग व्यक्ति भीख मांगते हैं, वह 'वृत्तिघ्नी भिक्षा' है। यह समाज-व्यवस्था का दोष है। 'सर्वसंपत्कारी भिक्षा' मुनि की होती है। वह न आलसी बनकर भीख मांगता है और न हीन बनकर। वह भिक्षा को कष्ट मानकर उसे सहता है। दूसरों के सामने हाथ पसारना कठोर मार्ग है, फिर भी मुनि के लिए इसके सिवा जीवन-निर्वाह का दूसरा कोई विकल्प नहीं होता। इसलिए उसे भिक्षा मांगनी होती है। गृहस्थ पूर्ण अहिंसा की भूमिका में नहीं होता, इसलिए उसे खान-पान के लिए भी हिंसा करनी पड़ती है। किंतु, जिसकी गति अहिंसा की ओर हो, उसमें खाद्य-विवेक अवश्य होना चाहिए।

अहिंसाव्रती को वैसी वस्तुएं नहीं खानी चाहिएं, जिनसे आवश्यकता-पूर्ति कम हो और हिंसा अधिक। उसे स्वाद के लिए कुछ भी नहीं खाना चाहिए और मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए।

मांस-त्याग का आधार यही (खाद्य-विवेक) है। मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। उसे खाने के पीछे स्वाद-वृत्ति, पौष्टिकता आदि भावनाएं होती हैं। मादकता, उत्तेजकता आदि उसके कुपरिणाम हैं। उससे वृत्तियों की तामसिकता बढ़ती है। मांस-भोजन के लिए बड़े जीवों की ही नहीं, उनके अतिरिक्त असंख्य छोटे जीवों की भी हिंसा होती है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलकर मांसाहार-त्याग के निमित्त बनते हैं। कोमल वृत्ति का जागरण होने पर व्यक्ति का विवेक किस प्रकार जाग उठता है वह निम्न घटना में परिलक्षित होता है—

जब बीमार पड़े हुए बर्नार्ड शॉ से डॉक्टरों ने कहा कि—'यदि आप गाय का मांस नहीं खाते हैं तो मर जाएंगे।' तब बुद्धिमान शॉ ने—'लंदन डेली क्रॉनिकल' नामक दैनिक-पत्र में इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किए—

'मेरी स्थिति बड़ी गंभीर है। मुझे जीवन-दान इस शर्त पर दिया जा रहा है कि मैं गाय या बछड़े का मांस खाऊं। परंतु मेरी श्रद्धा है कि प्राणी-मात्र का शव भक्षण करने की अपेक्षा मृत्यु कहीं अधिक अच्छी है। मेरे जीवन की अंतिम आकांक्षा मेरी अंत्येष्टि क्रिया के लिए मार्गदर्शन करती है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् भेड़ें, दूध देने वाले पशु तथा छोटी-छोटी मछलियां आदि सभी जीव मेरी मृत्यु का शोक न मनाकर अपने गलों में शुद्ध वस्त्र बांधकर ऐसे व्यक्ति के सम्मान में प्रसन्नतापूर्वक समारोह मनाएं, जिसने जीव-जंतुओं का मांस खाने के स्थान पर मर जाना अधिक अच्छा समझा। मेरी अंतिम यात्रा 'नोहाअर्क' के अपवाद को छोड़कर सबसे निराली घटना होगी।'[5]

अंतर्मुखी दृष्टि

अहिंसक की दृष्टि अंतर्मुखी होनी चाहिए। बहिर्मुखी दृष्टि वाला व्यक्ति बुराई करते समय 'कोई देख न ले'—इस तरह बचाव करता है, अपना बचाव नहीं करता। इससे बुराई गूढ़ बन जाती है। प्रकट रोग से छिपा रोग और अधिक जटिल होता है। दृष्टि अंतर्मुखी होने पर व्यक्ति का सहज प्रयत्न बुराई से बचने का होता है, फिर चाहे कोई देखे या न देखे। दिन और रात, एकांत और सहवास, शयन और जागरण में जिसका हिंसा से बचने का समान प्रयत्न हो, थोड़ा भी अंतर न आए, वही व्यक्ति अहिंसा या अंतर्मुखी दृष्टि वाला है। बुराई में जिसको अपना अनिष्ट दीख पड़े, वही व्यक्ति बुराई को छोड़ सकता है। लज्जा, भय या अनुशासन के द्वारा बुराई गूढ़ बन जाती है, मिटती नहीं। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—'मारने वाले को जीव-हिंसा में अपना अनिष्ट दीख जाए, तभी वह उसे छोड़ सकता है, नहीं तो नहीं।' आत्मानुशासन का स्रोत अंतर्मुखी दृष्टि ही है। आत्मानुशासन का अर्थ है—अपने पर अपना अनुशासन। इसका जागरण होने पर अहिंसा का विकास हो जाता है।

विकार-परिहार की साधना

विकार-विजय का अर्थ है—आत्म-विजय। विकार व्यक्ति-हेतुक भी होते हैं और समाज-हेतुक भी। हिंसा और परिग्रह, वासना और भूख-प्यास—ये वैयक्तिक विकार हैं। असत्य और चोरी सामाजिक विकार हे। अकेलेपन में भी व्यक्ति छोटे-बड़े जीवों की हिंसा करता है, पदार्थ का संग्रह करता है। असत्य और चोरी—ये अकेलेपन में नहीं होते। इसलिए ये दोनों सामाजिक जीवन के सहचारी हैं—ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। वासना और भूख-प्यास जैसे देह-संबद्ध हैं, वैसे असत्य और चोरी देह-संबद्ध नहीं हैं। वे जैसे व्यक्ति को सताते हैं, वैसे असत्य और चोरी नहीं सताते। ये

देह की अपेक्षाएं नहीं हैं, सहवास की स्थिति में उत्पन्न मानसिक विकृतियां हैं। भूख और प्यास विकार हैं, पर वासना की कोटि के नहीं।

वासना के पीछे मोह का जो तीव्र वेग होता है, वह भूख-प्यास की अभिलाषा के पीछे नहीं होता। विषय का स्मरण, चिंतन, इच्छा, स्नेह और भोग—ये वासना के स्थिरीकरण के हेतु हैं। पदार्थ और शरीर—ये दो वासना के क्षेत्र हैं। पांच इंद्रियों के पांच विषय—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द हैं। मन का प्रधान विषय संकल्प है। इसीलिए कहा गया है—'काम! मैं तुझे जानता हूं। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तो तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा। इसीलिए तू मुझमें उत्पन्न नहीं होगा।'[6]

पदार्थ में आकर्षण होता है—स्पर्श की कोमलता, रस का माधुर्य, गंध की मादकता, रूप की मोहकता, शब्द की प्रियता होती है। इंद्रिया इन्हें मन तक पहुंचाती हैं और वह इन्हें पाने के लिए अधीर हो उठता है और देह को भी अधीर बना देता है।

व्यक्ति में पदार्थ से अधिक आकर्षण होता है। व्यक्ति के शरीर को चैतन्य की विशेषता प्राप्त होती है, इसलिए उसमें दूसरों को आकृष्ट करने की इच्छा, भावाभिव्यंजना और भाषा—ये विशेष गुण होते हैं। इनमें पदार्थ की अपेक्षा अधिक मोहकता और मादकता होती है। अहिंसक की दुनिया कोई दूसरी नहीं होती। वह इसी दुनिया में पदार्थ और प्राणी के आकर्षण के बीच रहता है। वह खाता-पीता है। उसे रूप दिखाई देते हैं। शब्द भी सुनता है। विषय से बचना एकांततः आवश्यक नहीं, ऐकांतिक आवश्यक है—विकार से बचना। रूप को जानना चक्षु-इंद्रिय का विषय है। वह न अच्छा है और न बुरा। रूप में आसक्ति आती है, तब वह विषय नहीं रहता, विकार बन जाता है। विचार हिंसा है। मन निर्विकार बने बिना अहिंसा नहीं आती। अतएव अहिंसक के लिए विकार-परिहार की साधना आवश्यक होती है। पदार्थ और प्राणी, दोनों के प्रति विकार पैदा होता है, पर वे उसके मूल स्रोत नहीं हैं। अपना शरीर विकार की अभिव्यक्तियों की प्रयोगशाला है, फिर भी विकार का मूल स्रोत नहीं है। आत्मा भी स्वभाव से विकारी नहीं है। विकार का मूल स्रोत है—मोह। वह आत्मा की अशुद्ध-दशा में उस पर छाया रहता है। मोह की परंपरा आगे बढ़ती चलती है। मोह-मुग्ध व्यक्ति अपनी देह को ही आत्मा मानने लगता है। इससे उसमें देहासक्ति उत्पन्न होती है। स्व-देहासक्ति प्रबल होने पर पर-देहासक्ति और उसके बाद पदार्थासक्ति बनती है। वह विकार के प्रबल होने का क्रम है। विकार-परिहार का क्रम है—

1. विवेक-दर्शन, 2. आत्म-दर्शन, 3. बहिर्व्यापार-वर्जन।

विवेक-दर्शन

चेतन और देह के भेद का ज्ञान—मैं चेतन हूं, मेरा शरीर अचेतन है। मैं अविनाशी हूं, यह नश्वर है। मैं पुनर्भवी हूं, यह एकभवी है। इसलिए हम दोनों दो हैं। इस विवेक-दर्शन से स्व-देहासक्ति का विलय होता है।

आत्म-दर्शन

आत्म-दर्शन का अर्थ है, दूसरों में अपने जैसी आत्मा का साक्षात्कार करना। इससे प्रेम पवित्र बन जाता है। शरीर-संबंधी प्रेम विकारी होता है। सही अर्थ में वह प्रेम होता ही नहीं। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ शारीरिक प्रेम में बंधता है। वहां प्रेम का आधार है—शरीर का आकर्षण। कल मानो छूत की बीमारी हो गई, तब प्रेम टूट जाता है। पवित्र और विराट् प्रेम का आधार होता है—आत्म-दर्शन। इसके साथ जो प्रेम आता है, उसमें बीमारी और बुढ़ापा—ये बाधक नहीं बनते। जिसमें आत्म-दर्शन की शक्ति प्रबल हो जाती है, वह विकारी प्रेम में नहीं फंसता।

बहिर्व्यापार-वर्जन

इंद्रिय और मन का व्यापार अंतर्मुखी होता है। पदार्थों का अनावश्यक चिंतन, दर्शन और ध्यान नहीं होता, तब पदार्थासक्ति छूट जाती है।

अहिंसक के लिए इन तीनों की आराधना आवश्यक है। ऐसा किए बिना विकारों का परिहार नहीं होता।

अहिंसा का अर्थ है—निर्विकार-दशा। ❖

समाप्त

संदर्भ

1. (क) अपुत्रस्य गतिर्नास्ति। (ख) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्....
2. जाया य पुत्ता न हवन्ति ताण.... उत्तराध्ययन, 17
3. उत्तराध्ययन 19-91 :
   लाभा लाभे सुहे दुखे, जोविए मरणे तहा।
   समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ।।
4. दशवैकालिक 8 : देहे दुक्खं महाफलं
5. धर्मयुग, वर्ष 5, अंक 5, ता. 7/11/54
6. काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
   नाहं संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।। ❖❖

खोजा जा सकता है शांति और समृद्धि का मार्ग

वैश्विक समस्याएं और जैन दृष्टि

डॉ. सागरमल जैन

हम सभी मनुष्य हैं। वर्तमान समय में मानव-जाति जिन समस्याओं का सामना कर रही है, मनुष्य होने के नाते वे हमारी अपनी ही समस्याएं हैं। हम मनुष्य ही इन समस्याओं की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार हैं और हम ही इनके दुष्परिणामों को भी भुगत रहे हैं। मानव-समाज में विद्यमान इन विषम परिस्थितियों से धार्मिक नेता और धर्माचार्य भी अपनी जिम्मेदारी से पल्ला नहीं झाड़ सकते हैं। वस्तुतः इन समस्याओं की जड़ों तक पहुंचना और उनके कारणों को खोजकर उन पर गंभीरतापूर्वक चिंतन-मनन कर समाधान की दिशा में ईमानदारी से प्रयास करना, हम सभी का प्राथमिक कर्तव्य है।

मानसिक तनाव की समस्या और उसका समाधान

वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित होने के साथ ही हमारे अंधविश्वास और मिथ्या धारणाएं ध्वस्त हुई हैं, परंतु साथ ही साथ इसके कारण आध्यात्मिक और मानवीय-मूल्यों के प्रति हमारी आस्था या विश्वास को भी दुर्भाग्य से गहरा धक्का पहुंचा है। सार्थक और शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए आज हम मानवीय जीवन-मूल्यों की उपेक्षा कर उनके स्थान पर अणुबम और अणुशक्ति पर अधिक भरोसा करते हैं। अपनी सुरक्षा के मामले में भी आज हम दोस्ताना रिश्तों को मजबूत करने की अपेक्षा आणविक शक्ति और आणविक हथियारों के विस्तार में अधिक विश्वास करते हैं।

यदि मनुष्य तनावमुक्त होना चाहता है, तो उसे जीवन के प्रति अनासक्त दृष्टि विकसित करनी होगी। जैन धर्म का यह विश्वास है कि आसक्ति जितनी मात्रा में कम होगी, जीवन में शांति उतने ही अनुपात में अधिक होगी। जब मनुष्य में रागात्मक वृत्ति या आसक्ति समाप्त हो जाती है, तो वह मानसिक तनावों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है और समभाव की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो कि हमारी सभी धार्मिक साधनाओं, उपासनाओं या धर्मानुसरण करते हुए जीवन जीने का परम लक्ष्य है।

यह बात स्पष्ट है कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हुई आश्चर्यजनक प्रगति ने मनुष्य को सुख-सुविधापूर्वक जीवन जीने के लिए अनेक भौतिक साधन एवं सुविधाएं उपलब्ध कराई हैं। भौतिक दृष्टि से पृथ्वी पर जितना वैभवशाली और सुखद जीवन आज है, वैसा पहले कभी नहीं था। फिर भी मानव-समाज में आमतौर पर भौतिकवाद के प्रति अभिरुचि और स्वार्थी दृष्टिकोण के विकास के कारण आज कोई भी व्यक्ति सुखी और संतुष्ट नहीं है। यद्यपि, वैज्ञानिक ज्ञान और दृष्टिकोण के विकसित होने के परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हुई है, परंतु मनुष्य में विद्यमान पाशविक

वृत्ति और उसके स्वार्थी स्वभाव का किंचित् मात्र भी परिष्कार नहीं हुआ है, बल्कि आज स्थिति यह है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के क्षेत्र में उसका व्यवहार स्वार्थ एवं पाशविक वृत्ति से ही अधिक प्रेरित एवं संचालित है। दुर्भाग्य से हुआ यह है कि अतिमहत्त्वाकांक्षा और सफलता के उन्माद में हम अधिक लालची और अहंकारी हो गए हैं। हमारी आकांक्षाएं और इच्छाएं असीम हैं और उन सब की पूर्ति होना असंभव है। अतः जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है, उनके कारण मनुष्य कुंठाग्रस्त हो जाता है या निराशा उसके मन में घर कर लेती है। यह कुंठा और निराशा मानसिक तनाव को जन्म देती है। आज हमारा जीवन उत्तेजनाओं, मनोविकारों और मानसिक तनावों से भरा हुआ है। जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आज भौतिक दृष्टि से अधिक संपन्न हैं, वे ही अपेक्षाकृत अधिक तनावग्रस्त हैं। विकसित राष्ट्रों में रहने वाले लोगों के संबंध में उपलब्ध चिकित्सकीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इससे स्पष्ट होता है कि मानसिक तनावों का कारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संसाधनों का अभाव होना नहीं है, अपितु असीमित इच्छाओं और भौतिक सुखों के प्रति हमारी लालसा है।

वर्तमान समय में विश्व-मानव-समुदाय जिन समस्याओं का सामना कर रहा है, उनमें मानसिक तनाव की समस्या प्रमुख है। आज हम हर समय तनाव में ही रहते हैं, यहां तक कि हम गहरी सुखद निद्रा से भी वंचित हो गए हैं। वस्तुतः तनाव को हमारे युग का एकमात्र अतिविशिष्ट लक्षण निरूपित किया जा सकता है, जिससे हमारे युग की पहचान हो सकती है। आज के युग को 'तनावों का युग' की संज्ञा दी जा सकती है। यह निर्विवाद है कि आज हमारे सामने जो भी समस्याएं हैं, वे हमारे ही कारण उत्पन्न हुईं हैं। अतः उनके परिणाम भी हमें ही भुगताने पड़ रहे हैं।

जैन धर्म का मूलभूत लक्ष्य व्यक्ति को मानसिक दुखों और तनावों से मुक्त कर समभाव या समाधि में स्थित करना है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम हमें इन मानसिक तनावों के कारण को जानना होगा। जैन धर्म की दृष्टि में मानवीय दुखों का मूल कारण दैहिक न होकर चैतसिक (मानसिक) है। पदार्थों के प्रति हमारी रागात्मक वृत्ति के कारण तनाव या दुख उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः यह रागभाव या ममत्व बुद्धि या आसक्ति ही मानसिक तनावों के लिए पूर्णतया जिम्मेदार है। प्रसिद्ध जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लिखित है—'मनुष्य हो या देवता, सभी के मानसिक एवं शारीरिक दुखों का मूल राग-भाव ही है। राग मानसिक तनावों का मूल है।'[1] सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्त दृष्टि या निर्ममत्व-बुद्धि ही मानव जाति को मानसिक तनावों से छुटकारा दिला सकती है।

भगवान महावीर के अनुसार इंद्रिय-सुखों के प्रति राग-वृत्ति बनी रहने से ही व्यक्ति इस विषम सांसारिक चक्र में घूमता रहता है। वे कहते हैं—'जिस व्यक्ति को मोह नहीं रहा है, उसने दुखों को नष्ट कर दिया है और जिस व्यक्ति में तृष्णा नहीं रही है, उसने लोभ को मिटा दिया है; जिस व्यक्ति में लोभ नहीं रहा है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया है और जो व्यक्ति राग-वृत्ति या तृष्णा से मुक्त हो गया है, उसने इच्छाओं को समाप्त कर दिया है और जिसमें इच्छा ही नहीं रही, वह सर्व-दुखों से मुक्त हो गया है।'[2] वस्तुतः भौतिक पदार्थों के द्वारा मानवीय इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करना तो इच्छारूपी जड़ों को सींचने के समान ही है, जिसके परिणामस्वरूप नित नई-नई इच्छाओं की शाखाएं प्रस्फुटित होती हैं। श्रमण भगवान महावीर कहते हैं—'कैलास पर्वत के समान अनगिनत सोने और चांदी के पहाड़ों से भी मानवीय इच्छाओं की संतुष्टि नहीं हो सकती है, क्योंकि इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं।'[3]

यदि मनुष्य तनावमुक्त होना चाहता है, तो उसे जीवन के प्रति अनासक्त दृष्टि विकसित करनी होगी। जैन धर्म का यह विश्वास है कि आसक्ति जितनी मात्रा में कम होगी, जीवन में शांति उतने ही अनुपात में अधिक होगी। जब मनुष्य में रागात्मक वृत्ति या आसक्ति समाप्त हो जाती है, तो वह मानसिक तनावों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है और समभाव की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो कि हमारी सभी धार्मिक साधनाओं, उपासनाओं या धर्मानुसरण करते हुए जीवन जीने का परम लक्ष्य है।[4]

मानव-जाति की उत्तरजीविता और निःशस्त्रीकरण की समस्या

वर्तमान समय में विश्व के सामने दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या स्वयं मानव-जाति की उत्तरजीविता से संबंधित है। युद्ध-तकनीकी और परमाणु शस्त्रों की आश्चर्यजनक प्रगति के कारण संपूर्ण मानव-जाति आज विनाश के कगार पर खड़ी है। आज सवाल किसी एक धर्म या संस्कृति या राष्ट्र की उत्तरजीविता का नहीं है, अपितु यह समस्या संपूर्ण मानव-जाति के संबंध में है। आज हमारे पास स्वशासित

शस्त्र तो हैं, परंतु स्वशासित मनुष्य नहीं हैं। किसी एक राष्ट्र या व्यक्ति का पागलपन संपूर्ण मानव-जाति को नष्ट कर सकता है, क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान और दृष्टिकोण विकसित होने के साथ ही आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति हमारा विश्वास चकनाचूर हो गया है। जब पारस्परिक विश्वास, सहयोग और सहअस्तित्व जैसे उच्चस्तरीय जीवन-मूल्यों का पतन होता है, तो वहां संदेह का जन्म होता है। संदेह भय का कारक है, भय से मनुष्य में असुरक्षा का भाव पैदा होता है, यही कारण है कि आज विश्व में हथियारों का विशाल ढेर खड़ा हो गया है। हथियारों के प्रति मनुष्यों के पागलपन की यह दौड़ इस पृथ्वी पर से मानव-जाति का नामो-निशान मिटा देने की तैयारी है।

इस प्रकार मानव-जाति की उत्तरजीविता निःशस्त्रीकरण के प्रश्न से संबंधित है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हमें मनुष्य-मनुष्य के बीच पारस्परिक विश्वास पैदा करना होगा और तभी भय एवं असुरक्षा का भाव समाप्त होगा, क्योंकि शस्त्रीकरण के प्रति मानवीय पागलपन का यही एकमात्र कारण है और तब ही हम मानवीय पागलपन की इस दौड़ पर अंकुश लगा सकेंगे।

मानव-जाति की उत्तरजीविता की समस्या का निदान करने के लिए तथा हथियारों के प्रति उसकी अंधी दौड़ पर नकेल डालने के लिए जैनाचार्यों ने क्या उपचार प्रस्तुत किए हैं? जैनाचार्यों की दृष्टि में भय के कारण ही असुरक्षा का भाव पैदा होता है और असुरक्षा से भय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भय और असुरक्षा—दोनों एक-दूसरे के सहगामी हैं। असुरक्षा के कारण हथियारों का अंबार लग जाता है, इसलिए मानव-जाति में सुरक्षा का भाव विकसित करना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि अभयदान से बढ़कर कुछ नहीं है, जो एक मनुष्य अन्य प्राणियों को दे सकता है।[5] निर्भयता सर्वोच्च सद्गुण है। यह द्विपक्षीय है—1. दूसरों से भयभीत नहीं होना और 2. दूसरों के लिए भय का कारण नहीं बनना। एक सच्चा जैन संत वह है, जो भय और वैर—दोनों से ही मुक्त होता है।[6] जब भय नहीं रह जाता है, तो शत्रुता समाप्त हो जाती है, तब फिर शस्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार सुरक्षा और अस्त्र-शस्त्रों की अंधी दौड़ एक-दूसरे से संबंधित हैं। यद्यपि अस्त्र-शस्त्र सुरक्षा के साधन हैं, फिर भी इनसे प्रतिपक्ष में भय और असुरक्षा का भाव पैदा होता है और फिर अतिसंवेदी हथियारों की खोज करने के लिए शोध परियोजनाओं और प्रयोगशालाओं को सुसज्जित करने के लिए धन का भारी विनियोग किया जाता है तथा एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ हथियारों को जमा करने के पागलपन की दौड़ आरंभ हो जाती है। श्रमण भगवान महावीर ने सदियों पूर्व इस सत्य को जान लिया था कि हथियारों की इस अंधी दौड़ का कोई अंत नहीं है। आचारांग सूत्र में (ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी) भगवान महावीर उद्घोषित करते हैं कि 'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं'—अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ हो सकता है, परंतु निःशस्त्रीकरण या अहिंसा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[7] व्यक्ति या समाज का स्वार्थी और आक्रामक रवैया युद्ध और हिंसा को जन्म देता है। ये हमारी मानसिक रुग्णता की अभिव्यंजनाएं हैं, परिणतियां हैं। पारस्परिक विश्वास और अहिंसा के प्रति दृढ़ विश्वास के सहारे ही मानव-जाति परमाणु शस्त्रों की अंधी दौड़ से मुक्त हो सकती है और इस प्रकार उसकी उत्तरजीविता की समस्या का समाधान हो सकता है।

युद्ध और हिंसा की समस्या

सभी प्रकार के युद्धों एवं हिंसा के मूल में मानवीय असंतोष की भावना होने के साथ ही मनुष्य में सत्ता एवं संपत्ति के अपरिमित संग्रह की इच्छा का होना भी है। सूत्रकृतांग के अनुसार हिंसा की जड़ ममत्व-वृत्ति या सत्ता एवं संपत्ति के प्रति हमारी असीम इच्छा का होना है।[8] सुप्रसिद्ध पुस्तक—'Tension that causes war' हमें बताती है कि आर्थिक असमानता, असुरक्षा की भावना और कुंठा ही वर्ग-संघर्ष को जन्म देती हैं। यह सत्य है कि पुराने समय में युद्ध का कारण केवल दूसरों की सत्ता एवं संपत्ति, स्त्री, जमीन-जायदाद, मुद्रा, मूल्यवान धातुओं एवं जवाहरातों की वस्तुएं आदि हथियाने की इच्छा हुआ करती थी, परंतु आजकल तो आर्थिक असमानता, जनाधिक्य, असुरक्षा की भावना तथा जाति, पंथ एवं रंगभेद पर आधारित असमानताएं भी युद्ध के कारण हो गए हैं। जैन तीर्थंकरों ने सदैव ही युद्ध और हिंसा की निंदा की है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—'यदि आप लड़ना ही चाहते हैं, तो अपने-आप से, अर्थात् अपनी मनोवृत्तियों से लड़ें। दूसरों से झगड़ने की तुलना में अपनी दुष्वृत्तियों के विरुद्ध स्वयं ही लड़ना ज्यादा अच्छा है। यदि आप कुछ जीतना ही चाहते हैं, तो आत्मा को आत्मा के द्वारा जीतो।

यदि कोई व्यक्ति आत्मजयी हो जाता है, तो यह हजारों-हजार योद्धाओं पर विजय पाने से भी श्रेयस्कर है।'[9]

जैनाचार्यों का उद्देश्य इस धरा पर से युद्ध एवं हिंसा को जड़-मूल से समाप्त करना है। यह संभव नहीं है कि किसी भी भौतिक पदार्थ या वस्तु, चाहे वह जड़ हो या चेतन, छोटी हो या बड़ी—दीर्घकाल तक न तो हम उसे अपने अधिकार में रख सकते हैं और न ही उसके स्वामी हो सकते हैं। इस पृथ्वी पर अनेक ऐसे व्यक्ति एवं राष्ट्र हैं, जो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की उक्ति में विश्वास करते हैं। यद्यपि आक्रमण करना और अन्याय सहना—दोनों ही जैनों को कभी भी स्वीकार नहीं रहे हैं, किंतु वे इस बात से निश्चयपूर्वक सहमत हैं कि जो लोग सत्ता और संपत्ति में संलिप्त या आसक्त रहते हैं तथा उन पर दूसरों की जान और माल की हिफाजत करने का सामाजिक दायित्व भी है, किंतु वे ही ऐसे लोग हैं जो युद्ध और हिंसा से मानव-समाज की प्रतिरक्षा कर, उससे छुटकारा दिलाने में निश्चित ही असमर्थ होते हैं।

जैनाचार्य यह स्वीकार करते हैं कि पूर्ण अहिंसा आध्यात्मिक तल पर भी ऐसे संत-महात्माओं के द्वारा ही संभव हो सकती है, जो राग और द्वेष से ऊपर उठ गए हैं, आत्मा की अमरता में जिनका सम्यक्रूपेण विश्वास है तथा मृत्यु और असुरक्षा के भय से जो विचलित नहीं हैं। वस्तुतः युद्ध और हिंसा की समस्या मुख्य रूप से लौकिक जगत से चिपककर रहने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों से संबंधित है। वे उद्योगजा (कल-कारखाने आदि) हिंसा से तथा अपनी प्रतिरक्षात्मक हिंसा से छुटकारा नहीं पा सकते हैं, परंतु जैन धर्म उनसे भी यह अपेक्षा अवश्य रखता है कि वे इस हिंसा को भी कम-से-कम करके न्यूनतम स्तर पर लाने का प्रयास करें। वस्तुतः युद्ध और हिंसा में किसी भी कीमत पर अबोध और निर्दोष लोगों का खून नहीं बहना चाहिए। जैनाचार्यों ने अहिंसक तरीके से युद्ध करने और हिंसा को कम करने के लिए, यहां तक कि न्यायपूर्ण और सुरक्षित ढंग से युद्ध लड़ने के लिए अनेक तरीकों और उपायों के सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने मुख्य रूप से दो प्रकार के उपाय बताए हैं—युद्ध किसी की मध्यस्थता में हो और बिना हथियारों के लड़ा जाए। भरत और बाहुबली के बीच हुई लड़ाई ऐसे अहिंसक युद्ध का उदाहरण है। हमारे समय में भी महात्मा गांधी ने अहिंसक तरीके से विरोध करने की योजना तैयार की थी और उस पर उन्होंने और उनके अनुयायियों ने सफलतापूर्वक अम्ल भी किया। परंतु, सबके लिए अहिंसक तरीके से विरोध करना संभव नहीं होता है। ऐसा करने का साहस उन्हीं व्यक्तियों में होता है, जो अनासक्त हो गए हैं और यहां तक कि जिनमें अपने शरीर के प्रति भी ममत्व बुद्धि नहीं रही है। जिनका हृदय निर्मल हो गया है, वे ही अपने अधिकारों की रक्षा अहिंसक ढंग से कर सकते हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इस प्रकार से प्रयास करना तभी परिणामदायी हो सकता है, जबकि प्रतिपक्ष भी पाषाण-हृदय का न होकर इंसानी हृदयवाला हो। इस प्रकार के प्रयासों की सफलता तब संदेहास्पद हो जाती है, जब ऐसे व्यक्ति एवं समाज के साथ उसका प्रयोग किया जाता है, जो मानवीय मूल्यों में विश्वास नहीं रखता है और केवल अपनी स्वार्थपूर्ति से प्रेरित होता है। जैन धर्म केवल गृहस्थ को—साधु को नहीं—कुछ आपवादिक स्थितियों में ही हिंसा के द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा करने की अनुमति देता है, परंतु इस संदर्भ में अंतिम सत्य तो यही है कि जैनाचार्य हिंसा को एक बुराई के रूप में ही प्रतिपादित करते हैं और इसे किसी भी परिस्थिति में एक अच्छाई के रूप में उचित नहीं ठहराया जा सकता है।[10]

मानव-जाति के विभाजन की समस्या

वर्तमान समय में मानव-जाति जिन मूलभूत समस्याओं का सामना कर रही है, उनमें से एक उसके विभाजन की समस्या भी है। वस्तुतः मानव-जाति एक है। जाति, रंग और पंथ की दीवारें हम मनुष्यों ने ही खड़ी की हैं। इस प्रकार मानव-जाति इन कृत्रिम आधारों पर बंटी हुई है। हमें इस तथ्य के प्रति जागरूक होना चाहिए कि हमारी एकता नैसर्गिक है, जबकि ये विभाजन की रेखाएं कृत्रिम हैं, मनुष्य-निर्मित हैं। मानव-जाति के इस प्रकार से विभाजित हो जाने के कारण आज हम सभी आपस में एक-दूसरे के विरोध में खड़े हुए हैं। मानव-समाज में पारस्परिक प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता की भावना विकसित करने के बजाय हम लोग जाति, पंथ और रंगभेद के नाम पर आपस में एक-दूसरे के प्रति घृणा और विद्वेष का जहर फैला रहे हैं। खेद की बात तो यह है कि हम अपने ही भाइयों, अर्थात् साथी मनुष्यों के खून के प्यासे हो गए हैं। यह भलीभांति ज्ञात तथ्य है कि मनुष्य-निर्मित इन कृत्रिम विभाजन-रेखाओं के कारण अनगिनत युद्ध लड़े गए हैं। इतना ही नहीं—प्रत्येक जाति, मजहब, संस्कृति अन्य की अपेक्षा अपने श्रेष्ठ होने का दावा भी करती रही है और इसी कारण न केवल भारत में, अपितु समूचे विश्व में वर्ग-संघर्ष उग्र

होते जा रहे हैं और मानव-समुदाय के बीच सहिष्णुता की भावना और शांति भंग कर रहे हैं।

जैन धर्म अपने उद्भवकाल से ही मानव-जाति की मूलभूत एकता को स्वीकार करता आया है और जाति, पंथ और रंग-भेद के आधार पर मनुष्यों द्वारा निर्मित इन कृत्रिम विभाजनों का विरोध करता रहा है। भगवान महावीर ने उद्घोषित किया था—'मानव एक है'।[11] वे आगे कहते हैं—'उसमें श्रेष्ठता और हीनता जैसा कुछ भी नहीं है। अंतःनिहित क्षमताओं की दृष्टि से सभी मनुष्य बराबर हैं और इस रूप में श्रेष्ठ या हीन जैसा कुछ भी नहीं है।'[12] कोई भी व्यक्ति जाति या रंग या पंथ के आधार पर श्रेष्ठ नहीं होता है, अपितु अपने सदाचरण या सत्कर्मों या आत्मविकास के कारण वह श्रेष्ठ व्यक्ति या समाज के रूप में जाना जाता है। यह बात मानव-जाति में अंतर्निहित एकता और समानता की अवधारणा पर ही आधारित है, जिसका प्रतिपादन जैन धर्म अपने अभ्युदय काल से ही करता रहा है और इसी के आधार पर आज वर्ग-संघर्ष एवं विभाजन की समस्या का समाधान भी खोजा जा सकता है। इस हेतु पारस्परिक सहयोग और विश्वास के जीवन-मूल्य उपयोगी हो सकते हैं। जैनाचार्य मानते हैं कि जीवन का नियम पारस्परिक टकराव नहीं, अपितु पारस्परिक सहयोग है। आचार्य उमास्वाति अपने ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र में दृढ़तापूर्वक कहते हैं—'परस्पर सहयोग करना ही प्राणीजगत का मूलभूत स्वभाव है।'[13] केवल पारस्परिक विश्वास, सहयोग और एकता के जीवन-मूल्यों के आधार पर ही मानव-जाति के लिए शांति और समृद्धि का मार्ग खोजा जा सकता है।

जैन धर्म मानव-जाति की एकता में विश्वास रखता है, परंतु एकता से उसका अभिप्राय निरपेक्ष एकता से नहीं है। एकता से उसका तात्पर्य उस मूलभूत अखंडता से है, जिसमें प्रत्येक जाति, धर्म, पंथ आदि का व्यक्तिगत अस्तित्व अक्षुण्ण रहे और सभी मिलकर मानव-जाति के कल्याण के लिए काम करें। उसकी दृष्टि में एकता का मतलब 'अनेकता में एकता' से है। जैन धर्म यह बात निश्चयपूर्वक कहता है कि प्रत्येक जाति, धर्म, संस्कृति और पंथ आदि को अपने अस्तित्व को अपनी विशिष्टताओं के साथ बनाए रखने का पूर्ण अधिकार है, परंतु इसके साथ ही संपूर्ण मानव-जाति की भलाई के लिए कार्य करना और उसके हित में अपने स्वार्थों या हितों का त्याग करने के लिए तत्पर रहना भी उसका नैतिक धर्म है। जैन ग्रंथ स्थानांग सूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदि का उल्लेख किया गया है।[14] यह संदर्भ हमें गांव, शहर और राष्ट्र के प्रति हमारे कर्तव्यों की ओर इंगित करता है, जिनका निर्वाह हमें करना चाहिए।

आर्थिक असमानता और उपभोग-संस्कृति की समस्या

मानव-समाज में आर्थिक असमानता और उपभोग-शैली के स्तर में बहुत अधिक भिन्नता हमारे युग के दो अभिशाप हैं, जिनके कारण हमारी सामाजिक सौहार्दता को क्षति पहुंची है और ये ही वर्ग-संघर्ष एवं युद्ध के भी कारण हैं। आर्थिक असमानता के कारणों में परिग्रह (संग्रह) और भोग की इच्छा प्रमुख हैं। एक ओर तो धन-संपत्ति का संग्रह और दूसरी ओर भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति हमारी लालसा आज की उपभोक्तावादी संस्कृति के संकट के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार हैं। विज्ञान और तकनीकी विकास के फलस्वरूप सांसारिक सुख-सुविधाओं के साधनों में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, अतः इन वस्तुओं को पाने की चाह ने हमें पागल बना दिया है। केवल धन ही नहीं, यहां तक कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की कीमत पर भी हम इन वस्तुओं को पाने के लिए पागलों की तरह पीछे पड़े हुए हैं। धन और संपत्ति के स्वामित्व के संबंध में दिन-ब-दिन गहरी होती जा रही खाई और उपभोक्तावादी-संस्कृति ने मानव-समाज को अमीर और गरीब के दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। यद्यपि मानवीय इतिहास के प्रारंभिक काल से ही इस प्रकार के वर्ग अस्तित्व में रहे हैं, परंतु ईर्ष्या और नफरत की ज्वाला जैसी आज धधक रही है, वैसी पहले कभी नहीं थी। अतीतकाल में ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के सहयोगी रहे हैं, जबकि आज टकराहट की स्थिति में हैं। केवल धन-संपत्ति का असमान वितरण ही नहीं, अपितु समाज का अमीर वर्ग जिस तरह से ऐश्वर्यपूर्ण या विलासितापूर्ण जीवनयापन कर रहा है, वह भी गरीब वर्ग के हृदय में ईर्ष्या और नफरत का प्रमुख कारण है। यद्यपि जीवन में धन की महत्ता होती है और भारतीय संस्कृति में वर्णित चार पुरुषार्थों में से एक पुरुषार्थ धन भी है। किंतु जीवन-निर्वाह हेतु धनोपार्जन के लिए कोई धंधा या पेशा या व्यवसाय करना एक अलग बात है, परंतु धन को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लेना दूसरी बात है। जैनाचार्यों ने धन को सदैव ही एक साधन माना है, साध्य नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख किया गया है कि 'कोई भी व्यक्ति, इस लोक अथवा परलोक में केवल धन से

अपना संरक्षण नहीं कर पाता है'।[15] इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जैनाचार्य धन की महत्ता से अनभिज्ञ हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि धन या संपत्ति मनुष्य का प्राण है, जीवनशक्ति है—अतः जब किसी व्यक्ति को उसकी धन-संपत्ति के स्वामित्व से पृथक् कर दिया जाता है, तो वह हिंसा में संलिप्त हो जाता है। जैनाचार्य धन की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। किंतु, इस संदर्भ में उनका इतना ही कहना है कि धन सदैव ही एक साधन मात्र है, इसे साध्य नहीं माना जाना चाहिए। निःसंदेह भौतिकवादियों के साथ ही अध्यात्मवादियों के द्वारा भी धन को एक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है, परंतु दोनों की दृष्टि में अंतर है। भौतिकवादी जहां धन को ऐश्वर्यपूर्ण या विलासितापूर्ण जीवन-शैली का साधन मानते हैं, वहीं अध्यात्मवादी जैनाचार्यों की दृष्टि में धन किसी व्यक्ति-विशेष की सुख-सुविधा का साधन न होकर संपूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिए है। धन का संचय करना अपने-आप में बुराई नहीं है, परंतु उसके प्रति हमारी ममत्वबुद्धि या रागात्मक वृत्ति और भोग के प्रति हमारी लालसा ही उसे बुराई के रूप में विकसित करती हैं।

यदि हम मानव-जाति को वर्ग-संघर्षों से बचाना चाहते हैं, तो हमें स्वयं ही अपने स्तर पर स्वामित्व और उपभोग की सीमाएं निर्धारित करनी होंगी। इस संबंध में श्रमण भगवान महावीर ने साधु-साध्वियों के लिए 'अपरिग्रह महाव्रत' का और जनसाधारण अर्थात् गृहस्थों के लिए 'परिग्रह-परिमाणव्रत' का विधान प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त हमें ऐश्वर्यपूर्ण जीवन-शैली और वर्तमान में प्रचलित उपभोक्तावादी संस्कृति पर भी नियंत्रण करना होगा। इस संदर्भ में महावीर ने गृहस्थों के लिए 'उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत' का भी विधान प्रस्तुत किया है। धन और संपत्ति का प्रयोग जरूरतमंदों और मानव-समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए और इसके लिए उन्होंने अतिथि-संविभाग के नाम से दानव्रत का विधान प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि दान देकर साधु-संतों और समाज के कमजोर वर्गों के प्रति हम कोई उपकार नहीं करते हैं, अपितु उन्हें वह देते हैं—जो उनका अधिकार है। जैन धर्म में एक गृहस्थ के लिए धन और संपत्ति की सीमा तय करने की व्यवस्था निर्धारित की गई है और साथ ही अतिरिक्त धन-संपत्ति का उपयोग मानव-जाति की भलाई या हित में करने का निर्देश भी किया गया है। इन व्रत-व्यवस्थाओं के द्वारा हम मानव-समाज में सौहार्दता और शांति पुनर्स्थापित कर सकते हैं और वर्ग-संघर्ष एवं आर्थिक असमानता की समस्या का प्रभावकारी समाधान भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं में टकराहट की समस्या

जैन धर्म यह मानता है कि सत्य या वस्तुतत्त्व बहु-आयामी है, जिसे अनेक दृष्टिकोणों और विचारधाराओं से देखा और समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम भिन्न-भिन्न कोणों से एक पेड़ के हजारों 'फोटोग्राफ' ले सकते हैं। यद्यपि वे सभी किसी निश्चित कोण से उसी पेड़ की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, फिर भी सभी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक अलग-अलग रूप में या सभी मिलकर भी हमारे समक्ष उस पेड़ की पूर्ण तस्वीर प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार वे सभी फोटोग्राफ व्यक्तिगत और संयुक्त रूप से उस पेड़ की अपूर्ण तस्वीर ही प्रस्तुत करते हैं। यही बात मानवीय ज्ञान और समझ के संबंध में भी है। वस्तुतत्त्व को हम सापेक्षिक संदर्भों में ही जान सकते हैं और उसका वर्णन कर सकते हैं। वस्तुतः किसी निश्चित दृष्टिकोण या विचारधारा से ही वस्तुतत्त्व का हम ज्ञान कर सकते हैं और उसकी अभिव्यक्ति दे सकते हैं। यद्यपि प्रत्येक दृष्टिकोण या विचारधारा वस्तुतत्त्व की सत्य तस्वीर होने का दावा प्रस्तुत करती है, फिर भी यह उसकी अपूर्ण और सापेक्षिक तस्वीर ही होती है। वास्तव में हम उसकी वैधता या सत्यता को चुनौती नहीं दे सकते हैं, परंतु साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह अपूर्ण सत्य या सत्यता का एक पक्ष मात्र है। यदि हम वस्तुतत्त्व के अर्द्धसत्य को या एकपक्षीय सत्य को ही जानते हैं, तो हमें अपने विरोधियों की विचारधारा को मिथ्या कहकर पूर्ण रूप से खारिज या अमान्य करने का कोई अधिकार नहीं है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हमारे प्रतिपक्ष की विचारधारा भी किसी निश्चित दृष्टि से सत्य हो सकती है। जैन दर्शन का अनेकांतवाद का सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि वस्तुतत्त्व को देखने और समझने की सभी विचारधाराएं उसकी अपूर्ण, परंतु सत्य तस्वीर प्रस्तुत करती हैं और किसी निश्चित कोण से उनके सत्य होने के कारण हमें अपने विरोधी धर्मों और विचारधाराओं का भी सम्मान करना चाहिए। अनेकांतवाद उस विचारधारा का निषेध करता है जो मताग्रही और एकांगी होती है। यह हमें एक व्यापक दृष्टिकोण और उदारतापूर्वक सोचने की शिक्षा देता

है, जो कि विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं के बीच होने वाली टकराहट की समस्या का समाधान करने के लिए अधिक आवश्यक है। प्रो. टी.जी. कलघाटगी कहते हैं— 'अनेकांतवाद की भावना सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक आवश्यक है, विशेषकर आज के समय में, जबकि आपस में टकराहट रखने वाली विचारधाराएं आक्रामक शैली में अपने अतिश्रेष्ठ होने का दावा प्रस्तुत करने का प्रयास कर रही हैं। अनेकांत युक्तिसंगतता और सामाजिक सहिष्णुता की भावना का संदेश देता है।'[16]

आज समाज में सहिष्णुता की भावना को प्रभावकारी तरीके से विकसित करने की आवश्यकता है। जैन धर्म प्रारंभिक काल से ही सहिष्णुता अर्थात् अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव का समर्थक रहा है। सूत्रकृतांग में महावीर उद्घोषित करते हैं कि जो अपने धर्म और विचारधारा की प्रशंसा करते हैं और अपने विरोधियों के धर्म और विचारधारा को मिथ्या कहकर अस्वीकृत करते हैं, तो वे सत्य का अपलाप करने वाले, जन्म और मृत्यु के चक्र में परिभ्रमण करते हैं।'[17] जैन दार्शनिक सदैव यह कहते हैं कि सभी विचारधाराएं अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य होती हैं, परंतु जो दूसरों के विचारों या मतों को पूर्णतया नकारते हैं, वे मिथ्यावादी होते हैं। आचार्य हरिभद्र (ईसवी सन् की 8वीं शताब्दी) और आचार्य हेमचंद्र (ईसवी सन् की 12वीं शताब्दी) के ग्रंथों की निम्नोक्त पंक्तियां जैन धर्म में धार्मिक सहिष्णुता के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं—

लोकतत्त्वनिर्णय में आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'न तो महावीर के प्रति मेरा राग है और न ही कपिल आदि संतों और विचारकों के प्रति द्वेष। जो-कुछ भी विवेकपूर्ण और युक्तिसंगत है, उसे हमें स्वीकार करना चाहिए।'[18] इसी प्रकार से महादेवस्तोत्र में आचार्य हेमचंद्र कहते हैं—'मैं उन सभी को नमन करता हूं जो संसार-परिभ्रमण के मूलभूत कारक राग और द्वेष से ऊपर उठ गए हैं, फिर चाहे वे ब्रह्मा हों या विष्णु या महेश या जिन।'[19] इस प्रकार जैन संत सदैव ही अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु रहे हैं और उन्होंने धर्मों के बीच टकराहट को टालने का प्रयास किया है।

वर्तमान समय की मूलभूत समस्याएं मानसिक तनाव, हिंसा और विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं के बीच टकराहट की है। जैन धर्म ने मानव-जाति की इन समस्याओं का अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकांत जैसे तीन मूलभूत सिद्धांतों के माध्यम से समाधान करने का प्रयास किया है। यदि मानव-जाति इन सिद्धांतों पर चलती है, तो विश्व में शांति और सहिष्णुता स्थापित हो सकती है।

पर्यावरण-संतुलन के संरक्षण की समस्या

वर्तमान समय में ही नहीं, अपितु सुदूर अतीत से ही विश्व अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है, जैसे कि मानसिक तनाव, युद्ध और हिंसा, विचारधाराओं में टकराहट, आर्थिक असमानता, राजनीतिक दमन और वर्ग-संघर्ष आदि। इनमें से कुछेक आज सामाजिक संतुलन एवं पर्यावरण के संतुलन के लिए खतरे का संकेत दे रही हैं। निःसंदेह पर्यावरण का असंतुलन हमारे युग की जटिल समस्या है और आने वाली पीढ़ियों के लिए भी रहेगी। मात्र अर्द्धशताब्दी पूर्व तक भी हमने इसके बारे में नहीं सोचा था, परंतु आज हर कोई इस तथ्य से सुपरिचित है कि पर्यावरण-असंतुलन मानव-जाति की उत्तरजीविता से प्रत्यक्षतः संबंधित है। यह वायु, जल आदि के प्रदूषण और प्राकृतिक असंतुलन का संकेत है। यह केवल मनुष्य और उसके पर्यावरण के लिए ही नहीं, अपितु पशुओं और पेड़-पौधों के जीवन के लिए भी चिंता का विषय है।

जैन धर्म ने अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर पर्यावरण की इस समस्या के निदान हेतु अनेक उपाय प्रस्तुत किए हैं। जैनाचार्यों का मानना है कि न केवल मनुष्य और पशु-जीवन, बल्कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति-जगत भी संवेदनशील और सचेतन हैं। जैनाचार्यों के अनुसार उनको प्रदूषित करना और उनको नष्ट करना उनके प्रति हिंसा करना है और यह पापकर्म है। इसलिए उनका इस संबंध में दृढ़ विश्वास है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-जगत को तकलीफ पहुंचाना पाप हैं। यही कारण है कि उनकी प्रत्येक धार्मिक क्रिया पृथ्वी, जल और जीवन के प्रति क्षमा-याचना से शुरू होती है। जैनाचार्यों ने न केवल साधु-साध्वियों के लिए, अपितु गृहस्थों के लिए भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व वनस्पतियों के उपयोग के संबंध में अनेक प्रतिबंधों का विधान किया है। जैनाचार्यों ने वन्यप्राणियों और पेड़-पौधों के जीवन के संरक्षण पर अधिक जोर दिया है। उनके अनुसार शिकार करना सात गंभीर अपराधों या पापकर्मों में से एक है। जैन साधु हो या गृहस्थ, प्रत्येक के लिए यह कृत्य प्रतिबंधित है। जैन होने के लिए मांसभक्षण और शिकार पर निषेध एक आधारभूत शर्त है। आचारांग सूत्र में मानव-जीवन और पेड़-पौधों के जीवन के बीच समानता

का बहुत ही सुंदरता के साथ वर्णन किया गया है। पेड़-पौधों को नुकसान पहुंचाना मनुष्य को नुकसान पहुंचाने के समान ही है। जैन धर्म में साधु-साध्वियों के लिए कच्ची सब्जियां खाना और बिना गर्म किए हुए पानी पीने का निषेध है। वे नहाने के लिए नदी, तालाब, टब आदि में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। इतना ही नहीं, उनके लिए यात्रा के दौरान नदी को पार करने पर भी प्रतिबंध है। आचार के ये नियम आज भी प्रचलित हैं और इनका पालन किया जाता है। जैन साधु-साध्वियों को केवल गर्म किया हुआ या जीवाणुरहित पानी पीने की ही अनुमति है। न केवल जैन साधु-साध्वी, अपितु जैन समुदाय के कुछ गृहस्थ भी इन आचार-नियमों का पालन करते हैं। जैन साधु-साध्वी किसी पेड़-पौधे से फूल, यहां तक कि उसकी पत्ती भी नहीं तोड़ सकते हैं। इतना ही नहीं, वे चलते समय इस बात के प्रति सदैव सजग रहते हैं कि पैदल चलते समय उनके पांव के नीचे कोई सूक्ष्म जीव या हरियाली न आने पाए। अतिसूक्ष्म प्राणियों की प्रतिहिंसा से बचने के लिए वे अपने साथ बहुत ही मुलायम रेशों का ब्रश (ओघा) रखते हैं। संक्षेप में, जैन साधु-साध्वी वायु, जल आदि के प्रदूषण के प्रति बहुत ही सजग होते हैं।

जहां तक जैन गृहस्थों का सवाल है, वे भी अपने दैनिक जीवन की क्रियाओं को संपन्न करने के लिए सीमित और अल्प मात्रा में पानी और वनस्पतियों का उपयोग करने का व्रत लेते हैं। एक जैनी के लिए पानी घी और मक्खन से भी ज्यादा बहुमूल्य है। वनों की कटाई, कुएं और तालाबों आदि को सुखाना एक जैन के लिए गंभीर पापकर्म माना गया है। नियमानुसार एक जैन गृहस्थ बड़े पैमाने पर ऐसे उद्योग संचालित नहीं कर सकता है, जिनके कारण वायु और जल प्रदूषित होते हैं और पशुओं एवं वनस्पति-जगत के लिए हिंसा का कारण बनते हैं। ऐसे उद्योग, जिनसे बड़ी मात्रा में धुआं निकलता है—जैनाचार्यों द्वारा प्रतिबंधित किए गए हैं। ऐसे उद्योगों को महारंभ अथवा बड़े पाप या वृहत्-हिंसा की श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार जैन न केवल सूक्ष्म प्राणियों के प्रति, अपितु पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति-जगत के प्रति भी हिंसा का विचार करते हैं। एक गृहस्थ के लिए मुख्यतया पंद्रह प्रकार के उद्योग और व्यापार करने पर प्रतिबंध है, जो प्रमुख रूप से पर्यावरण-असंतुलन, पर्यावरण-प्रदूषण और सचेतन प्राणियों की हिंसा से संबंधित हैं। ऐसे तो जैनाचार्य एक गृहस्थ को खेती करने की अनुमति देते हैं, परंतु खेती के लिए कीटनाशकों का उपयोग करने से वे सहमत नहीं हैं, क्योंकि उससे न केवल कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं, अपितु खाद्य पदार्थ और वातावरण भी प्रदूषित होते हैं और यह उनके अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि जैन लोग पर्यावरण-असंतुलन की समस्या के प्रति बहुत अच्छी तरह से जागरूक रहे हैं। इस हेतु उन्होंने अपने अहिंसा के सर्वोच्च सिद्धांत के आधार पर पर्यावरण-असंतुलन को टालने के लिए या पर्यावरण-संतुलन को संरक्षित करने के लिए कुछ प्रतिबंध भी निर्धारित किए। ❖

अनुवाद : **डॉ. राजेंद्रकुमार जैन**

संदर्भ सूची

1. उत्तराध्ययन सूत्र, साध्वी चन्दनाजी द्वारा संपादित, विरायतन प्रकाशन, आगरा, 1972, 32/21
2. वही, 32/8
3. वही, 9/48
4. आचारांग (अंगसुत्तानी), संपादक—मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, वी.एस. 2031, 1/8/4
5. सूत्रकृतांग (भाग 2), संपादक—मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982, 1/6/203
6. उत्तराध्ययन सूत्र, 6/6
7. आचारांग, 1/3/4
8. सूत्रकृतांग, 1/1/1/1
9. उत्तराध्ययन सूत्र, 9/34
10. जैन जर्नल—वोल्यूम 22, जुलाई, 1987, नं.1, पृष्ठ 16-17
11. एगे माणुस जाई—आचारांग निर्युक्ति, सम्पादक—श्री विजयजिनसूरिश्वर, श्री हर्षापुष्पांर्मिता, जैन ग्रंथमाला, लखबावक, सौराष्ट्र, गाथा-19, संकलन, युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं।
12. आचारांग 1/2/3/75
13. तत्त्वार्थ सूत्र, संपादक—पं. सुखलालजी संघवी, पी.वी. शोध संस्थान, वाराणसी, 1976, 5/21
14. स्थानांग सूत्र, संपादक—मधुकर मुनि, ए.पी.एस. ब्यावर, 1981, 10/35
15. उत्तराध्ययन सूत्र 4/5
16. वैशाली इंस्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं. 4, पृ. 3
17. सूत्रकृतांग, 1/1/2/23
18. लोकतत्त्वनिर्णय, हरिभद्र, 38
19. महादेवस्तोत्र, हेमचन्द्र, 44

❖❖

सर्वेंद्रिय संयम के बिना विकारमुक्ति नहीं, विकारमुक्ति ही पूर्ण ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य : सर्वेंद्रिय संयम

बालकोबा भावे

ब्रह्मचर्य स्वयं अपना भाव सबको कह रहा है। 'ब्रह्म' और 'चर्य'—दोनों शब्द मिलकर यह अर्थबोध कराते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति के लिए यानी परमात्म दर्शन प्राप्त करने के लिए अनुकूल चर्या यानी अनुष्ठान करने योग्य साधना ब्रह्मचर्य है—ब्रह्म प्राप्ति का साधन यानी ब्रह्मचर्य। प्राचीन काल में अनेक संत, महापुरुष, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो गए हैं—जैसे शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, रामदास स्वामी आदि। गांधीजी, विनोबाजी आदि आधुनिक परंपरा के हैं। ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध जो 'सत्य' है, परमात्मा है, उसका अनुभव प्राप्त करने का जो विशाल, व्यापक, उत्कृष्ट ध्येय है—उसके लिए ब्रह्मचर्य ही योग्य साधन है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ संकुचित नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह साधक के लिए हानिकारक होगा। संकुचित अर्थ लेने से ब्रह्मचर्य का सही और पूर्ण पालन नहीं हो सकेगा। ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ है—जननेंद्रिय संयम या वीर्यसंग्रह। लेकिन, यह भी तब तक अप्राप्य, असफल ही रहेगा जब तक सर्वेंद्रिय संयम नहीं होगा। सर्वेंद्रिय संयम की आवश्यकता और महत्त्व का भान न होने पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की साधना में लगे रहने वाले एकांगी साधक अंत में जाकर विफल और निराश हो जाते हैं। इसलिए आंखों के सामने ध्येय सदा पूर्ण रहना चाहिए और उसके लिए जो साधन चुना जाए वह भी पूर्ण ही रहना चाहिए। इनमें से कोई भी अपूर्ण रहा तो सफलता नहीं मिल सकती।

ब्रह्मचर्य का अर्थ संकुचित नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह साधक के लिए हानिकारक होगा। संकुचित अर्थ लेने से ब्रह्मचर्य का सही और पूर्ण पालन नहीं हो सकेगा। ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ है—जननेंद्रिय संयम या वीर्यसंग्रह। लेकिन, यह भी तब तक अप्राप्य, असफल ही रहेगा जब तक सर्वेंद्रिय संयम नहीं होगा। सर्वेंद्रिय संयम की आवश्यकता और महत्त्व का भान न होने पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की साधना में लगे रहने वाले एकांगी साधक अंत में जाकर विफल और निराश हो जाते हैं। इसलिए आंखों के सामने ध्येय सदा पूर्ण रहना चाहिए और उसके लिए जो साधन चुना जाए वह भी पूर्ण ही रहना चाहिए। इनमें से कोई भी अपूर्ण रहा तो सफलता नहीं मिल सकती।

जब सब इंद्रियों को निग्रह में, संयम में, वश में रखेंगे तभी ब्रह्मचर्य सध सकता है। विकार-वृत्ति का क्षय हो जाए, मिथ्यात्व हृदयंगम हो जाए और उसके फलस्वरूप पूर्ण रूप से वीर्य संग्रह सहज हो—ऐसा चाहते हैं तो इसके लिए सर्वेंद्रिय संयम अत्यंत आवश्यक है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी जब प्रयत्नावस्था में, साधकावस्था में रहता है, तब स्थूल-विषय-सेवन के बिना भी प्रायः सूक्ष्म विकार का शिकार हो जाता है। उसे इस पर भी विजय प्राप्त करनी है, अन्यथा ब्रह्मचर्य पूर्ण नहीं होगा।

पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना है तो उसका संकुचित अर्थ छोड़ना चाहिए। सर्वेंद्रिय संयम के बिना वह

सधने वाला नहीं है। श्रवणेंद्रिय का विषय शब्द है। श्रवणेंद्रिय से उत्तेजक गाने और अश्लील शब्द सुनते रहें, विकार-जनक किस्से-कहानियां सुनते रहें, तो विकार-शमन कैसे होगा? फिर घ्राणेंद्रिय के विषय में कहते हैं कि उससे उत्तेजक गंध का सेवन नहीं करना चाहिए। फूलों की नैसर्गिक गंध हानिकारक नहीं है। फिर भी इन्हीं फूलों से जब विभिन्न प्रकार के इत्र बनाते हैं तो वे उत्तेजक बन जाते हैं। जब तक प्राण है तब तक घ्राणेंद्रिय रहने वाली है। यह श्वास के साथ जुड़ी इंद्रिय है, इसलिए इसका महत्त्व भी किसी से कम नहीं है। इसी प्रकार हाथों से वस्तुओं का स्पर्श करते समय कामनामय स्पर्श न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। स्त्री और पुरुष के शरीर में अंतर तो अत्यल्प है, लगभग दोनों समान हैं। फिर भी कैसा आश्चर्य है कि उनका परस्पर स्पर्श होने पर उतने ही अंतर को लेकर विकार का आक्रमण हो जाता है, यहां तक कि पुरुष-पुरुष के स्पर्श में तथा स्त्री-स्त्री के स्पर्श में भी विकार पैदा होता है, यह ईश्वरीय चमत्कार है। आंखों से अश्लील दृश्य देखते रहना भी ब्रह्मचर्य पालन में बड़ी बाधा उत्पन्न करता है। आंख बड़ी बलवान इंद्रिय है। आंख का उपयोग अन्य इंद्रियों की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए उसकी आदत और उसके प्रभाव की ओर विशेष निगरानी रखने की आवश्यकता है। यदि जरा भी असावधानी हुई तो मन में अपवित्र भाव जड़ जमा लेंगे।

जिह्वेंद्रिय भी कम प्रबल नहीं है। शरीर-धारण के लिए इस इंद्रिय का उपयोग अत्यावश्यक है। इसकी मांग बड़ी प्रबल होती है, प्रतिदिन अनिवार्य रूप से दो-तीन बार तो इसके संपर्क में आना ही पड़ता है। आंख या कान की तरह हमेशा इसका काम नहीं पड़ता। इसलिए जब मौका मिलता है, तभी यह इंद्रिय बड़ा जोर मारती है। इसलिए खाने की हर चीज या अन्य वस्तुओं के सेवन के समय बड़ी सावधानी रखनी होती है। जरा-सी भी ढिलाई बरतेंगे तो स्वादिष्ट चीजों की ओर झुकाव बढ़ेगा। उसमें भी तटस्थता रखनी आवश्यक है। अनासक्ति के साथ उसका सेवन करना है। जहां कृत्रिम स्वाद की मांग है, वहां न सच्ची भूख है, न तटस्थता है, न इंद्रिय संयम है। यद्यपि सब इंद्रियों का समान महत्त्व बताया गया है, फिर भी स्वादेंद्रिय का बहुत निकट का संबंध है। इस प्रकार हम पाते हैं कि सर्वेंद्रिय संयम में स्वादेंद्रिय संयम का स्थान प्रमुख है। स्वादेंद्रिय को छूट दे देने पर अन्य इंद्रियां भी बलवान हो जाएंगी। सब इंद्रियों को स्वादेंद्रिय से पोषण मिलता है।

यदि इन सब इंद्रियों के द्वार खुले रखें तो संयम कैसे सधेगा? घर का द्वार हमेशा खुला रहे और उस पर निगरानी न रखी जाए तो चोर कभी भी घर में घुसकर चोरी कर सकते हैं। इसी प्रकार इंद्रियों को अनियंत्रित छूट दे देने से आत्मा की निर्विकारता को ये नष्ट कर सकती हैं। आत्मा का स्वभाव विकारवशता नहीं, निर्विकारता है। यदि लखपति भीख मांगने चले तो वह मूर्ख ही कहा जाएगा। इसी प्रकार हम अपने आत्मस्वरूप को भूलकर यानी अपने को देहरूप समझकर इंद्रियों के पीछे भागते हैं तो हम भी मूर्ख और विवेकहीन ही कहलाएंगे। इसलिए माना जाता है कि यदि सब इंद्रियों को निरंकुश छूट दे दें, और कहें कि हमें ब्रह्मचर्य का पालन करना है और उसका निश्चय कर चुके हैं, अब व्रत लेना चाहते हैं—तो यह शुभ संकल्प, यह मंगल अभिलाषा कैसे सफल हो सकेगी? हम निर्विकार बनना चाहें और रास्ता पकड़ें विकारों का, तो हम मंजिल पर कैसे पहुंच सकेंगे?

शरीर को तो आग में डाल दें और यह शुभ अभिलाषा रखें कि वह जले नहीं, तो यह अभिलाषा शुभ होने पर भी कैसे पूरी हो सकेगी? शरीर तो जलकर राख होगा ही। इसी प्रकार स्वच्छंदता रूपी अग्नि में ब्रह्मचर्य की आहुति दे दें तो वह नष्ट हुए बिना रहेगा नहीं। इसलिए यह अभिलाषा व्यर्थ ही है। यदि ब्रह्मचर्य पालन का निश्चय किया है और उस ओर प्रयत्न शुरू किया है तो सर्वेंद्रिय संयम का निरंतर ध्यान रखना चाहिए। यह ध्यान न रहे, शिथिलता बरतें और एक भी इंद्रिय ढीली छोड़ दें तो ब्रह्मचर्य पालन मृगजलवत्, आकाश कुसुमवत् मिथ्या सिद्ध होगा। एक इंद्रिय का भी यदि असंयम हुआ तो ब्रह्मचर्य का घड़ा खाली हो जाएगा। घड़े में एक भी छेद हो तो उसमें पानी टिकेगा नहीं। रिसते-रिसते खाली हो जाएगा, काम नहीं दे सकेगा। इसलिए सर्वेंद्रिय संयम पूरी तरह रखना ही चाहिए, सबको एक साथ नियंत्रित करना ही चाहिए। शत्रु को जीतना है तो चारों ओर से एक साथ हमला करना होता है। कामरूपी शत्रु को जीतना आसान नहीं है। काम ही मोक्ष-विरोधी शत्रु है। सभी वासनाओं में यह वासना विशेष प्रबल पाई जाती है। इसलिए सामान्यतः सभी स्त्री-पुरुष वैवाहिक संबंध बनाने में चूकते नहीं। अधिकतर मनुष्य वैवाहिक हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी कम मिलेंगे। इस पर ब्रह्मचारियों को भी विकार के दर्शन नहीं होते हों, सो बात नहीं है। स्थूल न सही, सूक्ष्म विकार का स्पर्श प्रायः होता है और उन्हें उस पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। इसी प्रकार

अन्य इंद्रियों को भी अपने-अपने विषयों की वासना रहती है। उनकी ओर वे इंद्रियां खिंचती रहती हैं। उन्हें भी जीतना पड़ता है। इन इंद्रियों का आकर्षण कितना प्रबल और कितना सूक्ष्म है—यह तब मालूम होगा जब कुछ समय के लिए हम एकांत में रहकर देखें। इंद्रियां हैं तो विषयों से उनका संबंध आएगा ही। अतः उससे मन में अच्छा या बुरा भाव पैदा न होने दें, उस पर ध्यान रखें। इसके लिए संतों ने सत्संगति का उपाय सुझाया है और सत्संगति की इस दृष्टि से बड़ी महिमा गाई है। सत्संगति में रहने पर विषयेंद्रिय संयोग से अच्छा भाव ही उत्पन्न होगा। सर्वेंद्रिय संयम के लिए सत्संगति आवश्यक है। सत्संगति का अर्थ सज्जन-संगति, सद्ग्रंथ-वाचन, सत्कर्माचरण है।

ब्रह्मचर्य पालन कठिन माना गया है और है भी कठिन। फिर भी वह आसान हो जाएगा—यदि उन लोगों के अनुभव का लाभ हम लें, जिन्होंने उसमें सफलता प्राप्त की है। जिनको अनुभव नहीं है, वे अनुभवी स्त्री-पुरुषों के अनुभवों का लाभ उठाएं—यह सुवर्ण नियम है। शास्त्रकारों ने माना है कि सर्वेंद्रिय संयम के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है। गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के वर्णन प्रसंग में इस पर विस्तार से और गहराई से विचार किया गया है और बताया गया है कि स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण सर्वेंद्रिय संयम ही है। सर्वेंद्रिय संयम सिद्ध करने के लिए सब इंद्रियों को संयम में रखते हुए ईश्वर भक्ति का सहारा लेकर प्रयत्न किया जाए। सत्संग के बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना सर्वेंद्रिय संयम नहीं, सर्वेंद्रिय संयम के बिना विकारमुक्ति नहीं और विकारमुक्ति का ही अर्थ है—पूर्ण ब्रह्मचर्य। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

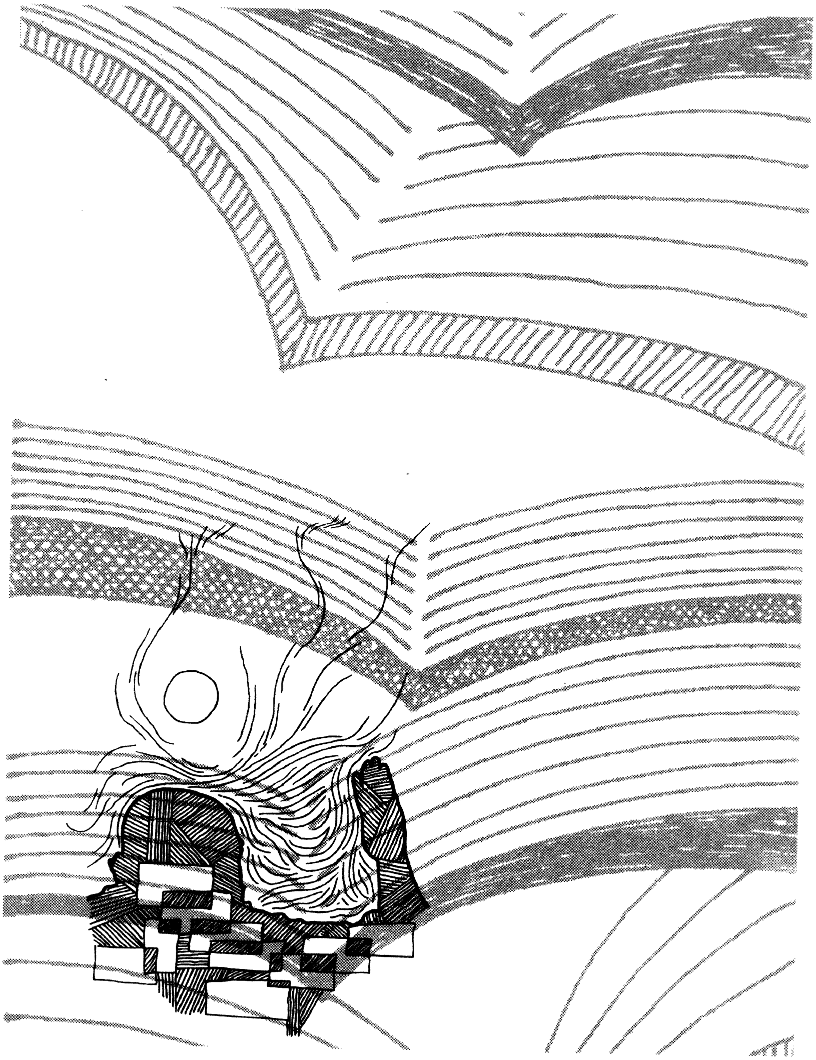

अनुभूति

अंतिम रहस्य तो यथार्थ है। और रहस्य अंतिम यथार्थ है।

बात अपनी जगह ठीक है। लेकिन जहां पर ठीक है वहीं पर यह भी कहना होगा कि 'सावधान! शब्दों से मत खेलो! उसे जियो जो तुम्हारे भीतर स्पंदित है और जिस के भीतर तुम स्पंदित हो।' यही उस ठीक बात को भी वास्तव में ठीक बनाता है—'अपनी जगह ठीक' के बदले 'हम में ठीक'!

—अज्ञेय

अनशन : निर्ममत्व और अभय की साधना

❑

मुनि मदनकुमार

जीवन की परम आवश्यकता है— अशन। दैहिक आवश्यकता या मांग को सदा के लिए सर्वथा अस्वीकार कर देना 'अनशन' है। भोजन की प्रवृत्ति से पराङ्मुख होकर आत्मलीनता के क्षणों में जीने का प्रत्याख्यानपूर्वक अभ्यास 'अनशन' कहलाता है। जैन महर्षियों द्वारा निरूपित आत्म-निष्ठा के जागरण का यह सर्वोत्तम प्रकल्प है। इसमें आत्मिक शक्ति और सौंदर्य की पराकाष्ठा है। जीवन में 'न खाने की वृत्ति' जागना श्रेष्ठ है और खाने की प्रवृत्ति मात्र का परिहार कर देना अद्भुत साहस का परिचायक है। अनशन वीरता का प्रतीक और मृत्यु की कला का दर्शन है। उपसर्ग से घिरे हुए शरीर को आत्म-केंद्रित करने के लिए तथा व्याधि से आक्रांत शरीर का सार खींचने के लिए 'अनशन' श्रेष्ठ उपक्रम है। अनुभव का स्वर है कि अनशन आध्यात्मिक चिकित्सा है, इससे शरीर और आत्मा—दोनों कुंदन बन जाते हैं।

स्थानांग के अनुसार साधु और श्रावक, दोनों का चरम मनोरथ अनशनपूर्वक देह-विसर्जन करना है। उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है कि मुनि को जब तक यह लगे कि इस शरीर के द्वारा नए-नए गुणों की उपलब्धि हो रही है, तब तक वह जीवन को पोषण दे। जब कोई विशेष गुण की उपलब्धि न हो, तब वह विचार-विमर्शपूर्वक इस शरीर को त्याग दे। शरीर-व्युच्छेद के लिए आहार का त्याग किया जा सकता है। अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर-ममत्व होता है, तब तक मृत्यु का भय बना रहता है। जब व्यक्ति शरीर-ममत्व से मुक्त होता है, तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है।

अनशन को 'देह-निर्ममत्व' या 'अभय की साधना' का विशिष्ट प्रयोग कहा जा सकता है। अनशन में व्यक्ति को जीवन की आकांक्षा और मरण के भय से मुक्त रहना चाहिए, किंतु संयमपूर्ण जीवन और समाधि-मरण की आकांक्षा करणीय है। समाधि-मरण को आचार्यों ने 'मृत्यु-महोत्सव' कहा है। अर्हतों की दृष्टि में मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किंतु उसका गौण परिणाम है।

❋

अनशन में मृत्यु की किंचित् भी कामना नहीं होती, इसलिए वह आत्महत्या नहीं है। जैसे डाक्टर द्वारा शल्य चिकित्सा के दौरान कोई रुग्ण व्यक्ति यदि मर जाता है, तब भी वह डाक्टर हत्यारा नहीं कहलाता—वैसे ही अनशन में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं है। अनशन के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अंतर है। आत्महत्या के पीछे उद्वेग, उत्पीड़न और पलायन का मनोभाव छिपा रहता है तथा यह घटना सर्वथा आकस्मिक रूप में होती है। जब आवेग चरम बिंदु पर पहुंच जाता है, तब ही आत्महत्या घटित होती है। इसमें मन की अशांति और नकारात्मक सोच का मुख्य हाथ रहता है। आत्महत्या में भय और उत्तेजना की पराकाष्ठा होती है, जबकि अनशन में अभय और समता की पराकाष्ठा। अनशन में अपूर्व प्रसन्नता है, जबकि आत्महत्या में अपूर्व विषाद है।

❋

अनशन का मुख्य परिणाम है—'आत्मलीनता'। औपपातिक सूत्र के अनुसार अनशन व्याघातसहित और व्याघातरहित, दोनों प्रकार के होते हैं। व्याघातसहित का अर्थ है—सिंह, दावानल आदि का व्याघात उत्पन्न होने पर किया जाने वाला अनशन। इससे यह फलित होता है कि अनशन व्याघात उत्पन्न होने पर भी किया जाता है और व्याघात न होने पर भी किया जाता है। सूत्रकृतांग के अनुसार शारीरिक बाधा उत्पन्न होने या न होने पर भी अनशन किया जाता है। परंपरा में यह मान्य है कि अनशन रुग्ण अवस्था में ही नहीं, किसी बाधा के न होने पर भी किया जा सकता है। यह विधान केवल मुनि के लिए ही नहीं, श्रावक के लिए भी है। मृत्यु के बहुत वर्ष पूर्व अनशन के प्रत्याख्यान की परंपरा व्याघातरहित अनशन का एक निदर्शन है। सरदारशहर में संपन्न घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी एवं तपस्वी श्रावक श्री घेवरचंदजी सुराणा के अनशन इस शृंखला में रखे जा सकते हैं। श्रावक घेवरचंदजी ने अनशन में दीक्षा स्वीकार कर और दीक्षा में अनशन की परिपालना कर, श्रावक जीवन के सभी मनोरथ पूरे किए।

भगवती सूत्र में पंडित-मरण के दो प्रकार बतलाए गए हैं—'प्रायोपगमन' और 'भक्त-प्रत्याख्यान'। औपपातिक सूत्र में भी ये दो ही प्रकार निर्दिष्ट हैं। पंडित-मरण का एक प्रकार इंगिनी-मरण भी है। यह भक्त-प्रत्याख्यान का ही एक प्रकार है। इसलिए इसका पृथक् निर्देश नहीं है। अनशन के तीन प्रकार भी किए जा सकते हैं—'प्रायोपगमन', 'इंगिनी' और 'भक्त-प्रत्याख्यान'। इन्हें सकाम-मरण, पंडित-मरण और अभ्युद्यत-मरण कहा गया है। समवायांग में अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं। श्रुतसागर जयाचार्यश्री ने भगवती की जोड़ में इस संदर्भ में उभरने वाले एक प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है। भगवती में पंडित-मरण के दो प्रकार बतलाए गए हैं। कोई मुनि अनशन के बिना मरता है—क्या उसका मरण पंडित-मरण नहीं कहलाएगा? इस प्रश्न को समाहित करते हुए जयाचार्यश्री लिखते हैं कि यहां इसकी विवक्षा नहीं है। यहां पर प्रायोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान के अर्थ वाला पंडित-मरण विवक्षित है। वैसे बिना अनशन के देह-त्याग करने वाले मुनि का मरण भी पंडित-मरण ही है। जयाचार्यश्री ने यहां भगवान महावीर के शिष्य सर्वानुभूति मुनि और सुनक्षत्र मुनि के अनशन के बिना ही पंडित-मरण का वरण कर आराधक पद की प्राप्ति का उल्लेख किया है। स्थानांग में मरण के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—'बाल-मरण', 'पंडित-मरण' और 'बाल-पंडित-मरण'। यहां अविरति के मरण को बाल-मरण, श्रमण-निर्ग्रंथ के मरण को पंडित-मरण तथा श्रावक के मरण को बाल-पंडित-मरण कहा गया है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में विरति और अविरति की अपेक्षा से ये तीन प्रकार के मरण निरूपित किए गए हैं—

अविरयमरणं बालं मरणं, विरयाणं पंडियं विंति।
जाणाहि बाल पंडियमरणं, पुण देसविरयाणं।।

अनशन का स्वीकार अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार किया जाता है। जो मुनि प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह इंगिनी-मरण स्वीकार करता है और जो इंगिनी-मरण स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह भक्त-प्रत्याख्यान अनशन स्वीकार करता है। जो मुनि भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने से भी अधिक समर्थ है और प्रायोपगमन अनशन करने में असमर्थ है, वह इंगिनी-मरण अनशन स्वीकार करता है, उससे भी अधिक समर्थ मुनि प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि भक्त-प्रत्याख्यान जघन्य, इंगिनी-मरण मध्यम और प्रायोपगमन उत्कृष्ट अनशन है। इनमें उत्तरोत्तर निर्जरा होती है। व्यवहार भाष्य में कहा गया है—'किसी भी संयम योग में उपयुक्त मुनि प्रतिक्षण असंख्येय भवों में उपार्जित कर्मों को क्षीण करता है। जो अनशन में उपयुक्त है, वह विशेष रूप से कर्म-क्षय करता है।'

अनशन का पहला प्रकार है—प्रायोपगमन। प्रायः का अर्थ है मृत्यु। समाधि-मरण के लिए उपगमन करना प्रायोगमपन कहलाता है। यह नियमतः अप्रतिकर्म होता है। इसमें चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है। यह अनशन करने वाला अपने शरीर की शुश्रूषा न स्वयं करता है और न किसी दूसरे से करवाता है। जैसे सम-विषम भूमि पर गिरा हुआ पादप उसी रूप में अवस्थित रहता है, वैसे ही प्रायोपगमन प्रतिपन्न मुनि खड़े, बैठे या लेटे—जिस मुद्रा में अनशन स्वीकार करता है, जीवनपर्यंत उसी मुद्रा में निष्प्रकंप रहता है। इस अनशन की यह विशेषता है कि इसमें किसी प्रकार की हलन-चलन नहीं की जा सकती। वायु आदि से प्रेरित वृक्ष की भांति केवल पर-प्रयोग से वह प्रकंपित हो सकता है, स्वप्रयोग से नहीं। व्यवहार भाष्य में बतलाया गया है कि इस अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि **वज्रऋषभ नाराच** संहनन वाला होता है। उसकी धृति वज्र-भित्ति के समान होती है। भाष्यकार का मानना है कि

चौदह पूर्वों के विच्छेद के साथ ही वज्रऋषभ नाराच संहनन और प्रायोपगमन अनशन का विच्छेद हो गया है।

प्रायोपगमन अनशन निर्हारि और अनिर्हारि तथा व्याघात और निर्व्याघात, दोनों प्रकार के होते हैं। उपाश्रय से बाहर गिरि-कंदरा आदि एकांत स्थानों में किया जाने वाला अनशन निर्हारि तथा उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन अनिर्हारि कहलाता है। मूलाराधना के अनुसार इस अनशन में तृण संस्तर (घास का बिछौना) नहीं किया जाता, स्वयं परिचर्या करना भी वर्जित होता है, यह सर्वथा अपरिकर्म होता है। मूलाराधना का मंतव्य है कि प्रायोपगमन अनशन करने वाला शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं हैं। वह अनशन करते समय जहां अपना शरीर टिका देता है, वहीं स्थिर भाव से टिकाए रहता है। इस प्रकार वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, इसलिए अनिर्हार होता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसे उठाकर किसी दूसरे स्थान में डाल देता है तो परकृत चालन की अपेक्षा वह निर्हार भी हो जाता है। इस अनशन का प्राकृत नाम **पाओअगमण** है। इसका संस्कृत रूप श्वेतांबर आचार्यों ने **पादपोपगमन** किया है तथा दिगंबर आचार्यों ने **प्रायोपगमन**। अर्थ की दृष्टि से **पादपोपगमन** अधिक उपयुक्त है, किंतु संस्कृत छाया की दृष्टि से **प्रायोपगमन** होना चाहिए।

अनशन का दूसरा प्रकार है—इंगिनी। इसमें भी चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। इंगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश में इधर-उधर आ-जा सकता है, किंतु उससे बाहर नहीं जा सकता है। इसके अतिरिक्त इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से शुश्रूषा नहीं करवाता, किंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा कर सकता है। मूलाराधना के अनुसार देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी उपसर्ग होने पर भी वह निष्प्रतिकर्म होता है—प्रतिकार रहित, उन्हें सहता है। प्रायोपगमन की तरह इंगिनी अनशन स्वीकार करने वाला मुनि तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं से अपने-आप को तोलकर अनशन स्वीकार करता है। व्यवहार भाष्य के अनुसार वह वज्र-ऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच और नाराच—इनमें से किसी एक संहनन तथा धृति से संपन्न होता है। वह नौ या दस पूर्वों अथवा ग्यारह अंगों का ज्ञाता होता है।

अनशन का तीसरा प्रकार है—भक्त-प्रत्याख्यान। इसमें जलवर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। यह अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है तथा इसमें शारीरिक परिचर्या स्वयं की जाती है और दूसरों से कराई भी जाती है। मूलाराधना में भक्त-प्रत्याख्यान अनशन के दो प्रकार बतलाए गए हैं—सविचार और अविचार।• जो बलयुक्त है, जिसकी मृत्यु तत्काल होने वाली नहीं है, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'सविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है। मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर जो भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसे 'अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।

अनशन में आहार का परित्याग किया जाता है। व्यवहार भाष्य में कहा गया है—'आहार सब सुखों का उत्पादक कारण, जीवन का सार और सबका जनक है। इस लोक में आहार से बढ़कर उत्तम रत्न अन्य कोई वस्तु नहीं है।' लोक में सब रत्नों में सारभूत ऐसे आहार रत्न को छोड़कर जो प्रायोपगमन-अनशन करते हैं, वे धन्य हैं। अनशनकर्ता इस जिन-प्रज्ञप्त निष्प्रतिकर्म प्रायोपगमन के विषय में सुनकर अपने स्वीकृत निश्चय में पराक्रम करता है। अनशन वैराग्य का ज्वलंत निदर्शन है। अनशन करने वाला सोचता है—संसार में ऐसा कौनसा भोग्य पदार्थ है, जिसका मैंने उपभोग नहीं किया है। खाने के पश्चात् पवित्र आहार अपवित्रता में परिणत हो जाता है—इस तथ्य का ज्ञाता मुनि आहार संज्ञा से मुक्त होकर सुखपूर्वक आत्मलीन हो जाता है। व्यवहार भाष्य में कहा गया है कि जैसे म्यान में निक्षिप्त तलवार भिन्न है और म्यान भिन्न है, वैसे ही शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अनशनकर्ता इस अन्यत्व भावना से भावित होता है, इसलिए कष्टों से प्रभावित नहीं होता। यह भेद-विज्ञान उसके लिए आत्म-रक्षक बन जाता है।

अनशन में निर्यापक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यवहार भाष्य में निर्यापक के दो प्रकार बतलाए गए हैं—आत्म-निर्यापक और पर-निर्यापक। प्रायोपगमन और इंगिनी अनशन में आत्म-निर्यापक होते हैं। वे किसी से सेवा नहीं लेते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान अनशन में दूसरे के द्वारा भी सेवा की जाती है, अतः इसमें आत्म-निर्यापना और पर-निर्यापना दोनों होते हैं। अनशनकर्ता की समाधि में जो योगभूत होते हैं, वे निर्यापक कहलाते हैं। चारित्रमय जीवन के पर्यंत समय—अनशन-काल में निर्यापक ही यथावस्थित शोधि प्रदान करते हैं, इससे वे उत्तरोत्तर चारित्र के निर्वाहक

होते हैं। व्यवहार भाष्य में निर्यापकों की उत्कृष्ट संख्या अड़तालीस बतलाई गई है। जघन्य में दो गीतार्थ मुनि अनशनकर्ता के पास होते हैं। एक भक्त-पान की मार्गणा करता है तथा दूसरा भक्त प्रत्याख्याता के पास रहता है। अनशनकर्ता को अकेला नहीं छोड़ा जा सकता है। निर्यापक अनशनधारी को समाधिस्थ रखता है, अतः एकाधिक निर्यापक अवश्य होने चाहिए। एक निर्यापक होने से अतिश्रम के कारण आत्म-विराधना, संयम-विराधना और कार्य-हानि के प्रसंग आ सकते हैं।

निर्यापक को योद्धा और पोत निर्यापक के दृष्टांत से भलीभांति समझा जा सकता है। जैसे अपने स्वामी द्वारा प्रशंसित और प्रोत्साहित योद्धा रणभूमि में शत्रु सेना को परास्त कर देता है, वैसे ही गीतार्थ निर्यापक को पाकर भक्त-परिज्ञावान् मुनि परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी तरह जैसे निपुण निर्यापक के अभाव में पोत विनष्ट हो जाता है तथा कुशल कर्णधार नौका को अभीप्सित भूमि तक ले जाता है, वैसे ही गीतार्थ के सहयोग से अनशनधारी सिद्धि को प्राप्त करता है।

अनशनधारी की शारीरिक शक्ति क्षीण होने से वह स्वयं उद्वर्तना-परिवर्तना आदि क्रियाएं नहीं कर पाता हो तो उसका निम्न कार्यों में सहयोग करने से उसे परम समाधि उत्पन्न होती है—

1. पिपासा परीषह उत्पन्न होंने पर उसे पानी पिलाना होता है।
2. किसी कष्ट के कारण वह अधीर हो जाए तो उसे इन शब्दों में साहस बंधाया जाता है—'तुम धृति धारण करो। तुम्हारी पैर आदि की पीड़ा दबाकर दूर कर दूंगा। हे पुण्यभाग! सहन करो, प्रज्ञा को स्थिर करो—इससे तुम शीघ्र ही सर्वदुख-मुक्त हो जाओगे।'
3. कष्टसहिष्णुता और समता की प्रेरणा देने वाले पूर्व मुनियों के अपूर्व जीवनवृत्त सुनाए जाते हैं।
4. उष्ण परीषह उत्पन्न होने पर उसे कक्ष से बाहर और वायु आदि सहन न होने पर पुनः भीतर ले जाया जाता है।
5. भेद-विज्ञान और आत्मलीनता के लिए नमस्कार महामंत्र, लोगस्स, चौबीसी, आराधना आदि सुनाए जाते हैं।

व्यवहार भाष्य में कहा गया है कि गुणसंपन्न परिचारक दिन-रात अश्रांत-अक्लांत भाव से अनशनकर्ता का सारा परिकर्म करते हुए विपुल कर्म-निर्जरण करते हैं। प्रत्याख्याता का देह-वियोग शीघ्र हो या विलंब से हो, दोनों ही स्थितियों में जागरूक परिचारक और प्रतिचर्यमाण महान् निर्जरा के भागी होते हैं। संघबद्ध जीवन का प्रयोजन यही है कि परस्परोपग्रह से कर्म-निर्जरा का लाभ प्राप्त हो सके।

अनशन कर्म-क्षय और आत्म-मंथन का श्रेष्ठ अवसर है। इसकी महत्ता का आधार यह है कि श्रमण की तरह श्रमणोपासक तथा जलचर, खेचर और स्थलचर तिर्यंचयोनिक समनस्क भी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन करते हैं तथा सुगति को प्राप्त होते हैं। तिर्यंच श्रावक जातिस्मरण-ज्ञान से अतीत जीवन को जानकर प्रबुद्ध हो जाते हैं तथा अनशन की आराधना कर उत्कर्षतः सहस्रार कल्प (आठवें देवलोक) तक उत्पन्न हो जाते हैं। लोक के सर्वोत्तम पुरुष तीर्थंकर देव भी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन करते हैं तथा सिद्धि का वरण करते हैं। इससे अनशन की महिमा स्वतः प्रमाणित है। इस अवसर्पिणी काल के बाईस तीर्थंकरों ने एक माह का अनशन कर, आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ ने छह दिन का अनशन कर तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने दो दिन का अनशन कर मोक्ष-पद प्राप्त किया है। श्रीमज्जयाचार्य ने इस तथ्य को उजागर करते हुए लघु चौबीसी के मंगलाचरण में लिखा है—

ऋषभ संथारे शिव गमन, चउदस भक्त उदार।
चरम छट्ठ अणसण पवर, बावीस मास संथारा।।

अनशन उत्तम अनुष्ठान है। यह जीवन के उत्तर-काल में आचरणीय है। मूलाराधना में कहा गया है कि विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना यदि अनशन किया जाता है तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से खिन्न है। अनशन स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके लिए विमर्श और सहमति आवश्यक है।

मृत्यु की मीमांसा करते हुए श्रुतपावन आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में लिखा है—'भगवान महावीर ने जीवन और मृत्यु, दोनों की अनेकांत दृष्टि से समीक्षा की थी। उनकी दृष्टि में व्यक्ति जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे ही मरने के लिए भी स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता का उपयोग और दुरुपयोग, दोनों ही हो सकते हैं। बाल-मरण मृत्यु की स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। भावावेश में जो आत्महत्या की जाती है, वह बाल-मरण है। वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। पंडित-मरण या समाधि-मरण मृत्यु की स्वतंत्रता का सदुपयोग है। इस मरण के पीछे कोई भावावेश

नहीं होता। पूर्ण शांत और समाहित चित्त की अवस्था में इस मरण का वरण किया जाता है।' आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशाश्रुतस्कंध में इस समाधि-मरण की पृष्ठभूमि और प्रक्रिया का निरूपण हुआ है। भगवान की दृष्टि में संयमपूर्ण जीवन वांछनीय है। असंयमपूर्ण जीवन वांछनीय नहीं है। उनकी भाषा है—**जीवन की आकांक्षा और मरण की आकांक्षा दोनों ही नहीं करनी चाहिए।** यह कथन असंयम की अपेक्षा से है।

अनशन व्रतराज और व्रतशिरोमणि है। जीवन के संध्याकाल में किया जाने वाला एक उत्कृष्ट प्रयोग और धर्मोद्योत है। अनशन मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। यह जीवन की अंतिम आवश्यक साधना है। अनशन मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाता है। यह जीवन-शुद्धि और मरण-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। अनशन में प्राप्त मृत्यु समाधि का कारण है। अनशन संलेखनापूर्वक भी होता है। आहार-संकोच के द्वारा शरीर को कृश करना संलेखना है। संलेखना का शाब्दिक अर्थ है—छीलना, कृश करना। शरीर को कृश करना—यह द्रव्य (बाह्य) संलेखना है। कषाय को कृश करना—यह भाव (आंतरिक) संलेखना है। आचार्य अभयदेव के शब्दों में—'जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल तथा कृश किया जाता है, वह संलेखना है। इसमें न जीने की इच्छा की जाती है और न मरने की। जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है तो मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। समाधि में रहना और जीने-मरने की इच्छा से उपरत होना ही संलेखना का अभीष्ट है।'

कुछ अविज्ञ लोग अनशन को आत्महत्या करार देते हैं, यह असत्य और भ्रमपूर्ण है। अनशन में मृत्यु की किंचित् भी कामना नहीं होती, इसलिए वह आत्महत्या नहीं है। जैसे डाक्टर द्वारा शल्य चिकित्सा के दौरान कोई रुग्ण व्यक्ति यदि मर जाता है, तब भी वह डाक्टर हत्यारा नहीं कहलाता—वैसे ही अनशन में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं है। अनशन के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अंतर है। आत्महत्या के पीछे उद्वेग, उत्पीड़न और पलायन का मनोभाव छिपा रहता है तथा यह घटना सर्वथा आकस्मिक रूप में होती है। जब आवेग चरम बिंदु पर पहुंच जाता है, तब ही आत्महत्या घटित होती है। इसमें मन की अशांति और नकारात्मक सोच का मुख्य हाथ रहता है। आत्महत्या में भय और उत्तेजना की पराकाष्ठा होती है, जबकि अनशन में अभय और समता की पराकाष्ठा। अनशन में अपूर्व प्रसन्नता है, जबकि आत्महत्या में अपूर्व विषाद है।

अनशन में सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-दर्शन के माध्यम से आत्मा और देह की भिन्नता को समझकर चारित्र और तप की आराधना की जाती है—इसलिए अनशन आत्महत्या नहीं है।

अनशन के संदर्भ में लोकमान्य-आलोकपुंज आचार्यश्री तुलसी के विचार मननीय हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'कुछ लोग अनशन और आत्महत्या के बीच की भेद-रेखा को पकड़ नहीं पाते। उनकी दृष्टि में अनशन का अर्थ आत्महत्या है। किंतु, गहराई से समझा जाए तो दोनों स्थितियों में दिन-रात का अंतर है। दोनों के लक्ष्य में अंतर है, प्रक्रिया में अंतर है और परिणाम में भी अंतर है। आत्महत्या के पीछे आवेश, निराशा, असफलता, आजीविका की समस्या, भय, कलह, प्रतिद्वंद्वात्मक प्रतिक्रिया आदि परिस्थितियां काम करती हैं। जबकि अनशन का एकमात्र उद्देश्य होता है—आत्मविशुद्धि। यत्र-तत्र सामाजिक व राजनीतिक मुद्दों को लेकर भी अनशन की बात सामने आती है। किंतु, वहां धरने दिए जाते हैं, धमकियां दी जाती हैं, कुछ अन्य अवांछनीय प्रयत्न भी किए जाते हैं। आध्यात्मिक धरातल पर किए जाने वाले अनशन में ऐसा कुछ भी नहीं होता। न परिस्थितियों की परवशता और न अपनी ओर से किसी पर किसी प्रकार का दबाव। न इहलोक संबंधी कोई आकर्षण और न कोई आशंसा। न जीने की चाह और न मृत्यु का भय। जीवन-दर्शन की तरह मृत्यु-दर्शन के आधार पर किया जाने वाला एक विशुद्ध प्रयोग है—अनशन। यह दमन की नहीं, शोधन की प्रक्रिया है। व्यक्ति की चेतना को अंतर्मुखी बनाने की प्रक्रिया है। इसका प्रयोग उस स्थिति में किया जाता है, जब जीवन के अंत की निकटता का आभास हो जाए अथवा साधना की दृष्टि से शरीर अक्षम बन जाए। ऐसी स्थिति में अनशन को आत्महत्या मानना सर्वथा अविचारित कदम है।' युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के शासन-काल में प्रभावक अनशन हुए हैं। कुछ अनशन उदाहरण स्वरूप यहां प्रस्तुत हैं—

प्रभावक अनशन की शृंखला में मुनिश्री सुमतिचंद्रजी (गंगाशहर) का नाम गरिमापूर्ण है। उन्होंने युवावस्था में

अनशन कर जबरदस्त इतिहास रचा। उन्होंने सन् 1953 में सपत्नी दीक्षा स्वीकार की थी। दीक्षा के समय वे मात्र 27 वर्ष के थे। सन् 1956 के सरदारशहर चातुर्मास में वे पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के साथ थे। उन्होंने इस चातुर्मास में लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप प्रारंभ किया। सवा छः माह के इस तप-अनुष्ठान में मात्र 33 दिन पारणा के होते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी आत्मकथा में मुनिश्री सुमतिचंद्रजी की तुलना आगमकालीन स्कंदक अनगार से की है। उनकी देह-रचना के विषय में लिखा है कि लगभग 100 किलो वजन वाला मुनि मात्र 20-22 किलो रह गया। इस तप की पूर्णाहुति से पूर्व ही उन्होंने यावज्जीवन तिविहार अनशन स्वीकार कर लिया। उस दिन उनके आठ दिन का तप था। उस दिन के बाद उन्होंने जल का भी परिहार कर दिया। गुरुदेवश्री के मुखारविंद से उन्होंने परिषद के बीच शरद पूर्णिमा को अनशन स्वीकार किया और कार्तिक कृष्णा दशमी के दिन पूर्ण सजगता की स्थिति में पार्थिव देह का त्याग कर दिया। उस समय उनकी आयु मात्र साढ़े तीस वर्ष की थी।

राजगढ़ की श्रीमती दाखाबाई सुराना ने 55 वर्ष की आयु में संकल्प किया कि वे 70 वर्ष की अवस्था के बाद अनशन करेंगी। प्रतिमा और तपस्या की आराधना करती हुई वे स्वयं को अनशन के अनुकूल बनाने में लग गईं। अनशन का संकल्प उन्होंने पहले ही कर लिया था और जब अनशन-काल निकट आने लगा तो वे दीक्षा के लिए भी समुद्यत हो गईं। चौविहार संथारे के ग्यारहवें दिन सरदारशहर में उन्हें प्रतापी पुरुष आचार्यश्री तुलसी से संयम-रत्न भी प्राप्त हो गया। उनकी दीक्षा के अवसर पर उन्होंने अपने प्रवचन में कहा था—'संथारे में दीक्षा देने का तेरापंथ धर्मशासन में यह पहला अवसर है। दीक्षा लेने के बाद गृहस्थ जीवन में स्वीकृत संथारे को चालू रखने की अनिवार्यता नहीं है। पर, साध्वी दाखांजी इस संथारे को इसी रूप में आगे बढ़ाएंगी।' संथारे में दीक्षा और दीक्षा में संथारा एक अद्भुत कार्य था। वे मात्र छः दिन ही संयम पर्याय में रहीं, किंतु उनके सारे मनोरथ फलीभूत हो गए।

सन् 1964 में साध्वी रत्नवतीजी ने ब्यावर में अनशन किया था। उन्होंने बाल-वय में आचार्यश्री तुलसी से दीक्षा स्वीकार की थी। कुछ वर्षों पश्चात् वे क्षय रोग से पीड़ित हो गईं। औषधि से स्वास्थ्य-लाभ न होने पर उन्होंने चौविहार तपस्या प्रारंभ कर दी। तपस्या के आठ दिन बीतने के बाद उन्होंने अनशन करने का चिंतन कर लिया। यह भावना जब आचार्यश्री तुलसी तक पहुंची तो उन्होंने उल्लासपूर्ण शब्दों में उन्हें आज्ञा प्रदान कर दी। अनशन कर वे ध्यान, जप और स्वाध्याय में लीन हो गईं। जनता की जिज्ञासाओं को उन्होंने अच्छे ढंग से समाहित करना प्रारंभ कर दिया। अनशन में उनकी गुरुभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। एक बार उनके अनशन में प्रशासन द्वारा अवरोध भी उपस्थित हुआ, किंतु संघ-प्रताप से सारी बाधाएं अभ्रवत् समाप्त हो गईं। अनशन पर मुकदमा दायर कर दिया था, किंतु स्थिति संभल गई। चौविहार तपस्या और अनशन के कुल 22 दिन पूरे होने के बाद साध्वी रत्नवतीजी ने देह-विसर्जन कर दिया। उस समय उनकी उम्र मात्र 32 वर्ष की थी। उस वीरांगना का प्रभावी संथारा उस समय देखने और सुनने वालों के लिए रोमांचकारी बन गया।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने शासनकाल में तपस्या और अनशन की परंपरा को बहुत अधिमान दिया। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा—'मेरी दृष्टि में जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। उसमें जीने के साथ मृत्यु की कला का भी स्पष्ट निदर्शन उपलब्ध है। कलात्मक जीवन का जितना मूल्य है, उससे भी अधिक मूल्य कलात्मक मृत्यु का है। अपश्चिम मारणांतिक संलेखना, संथारा और अनशन—इन नामों से इस कला की प्रक्रिया जैन साहित्य में उपलब्ध है। मृत्यु की कला का प्रशिक्षण प्राप्त कर उसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा को समाधि के साथ संपन्न करता है। साधु और गृहस्थ, दोनों के लिए यह मार्ग विहित है।' ❖

हम वर्तमान में तो हैं ही, किन्तु अनन्त भविष्य की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी हमको प्रस्तुत रहना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान–ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में जो उपस्थित होंगे उन्हें ग्रहण करने के लिए हृदय के सब दरवाजों को उन्मुक्त रखेंगे।

—स्वामी विवेकानन्द

पालनहार मां : कर्णधार बच्चा

साध्वी मुदितयशा

महाभारत में चक्रव्यूह के भेदन का प्रसंग है। कहा जाता है कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ में था, तब अर्जुन एक दिन सुभद्रा को चक्रव्यूह-भेदन की कला के बारे में बता रहे थे। चक्रव्यूह को भेदकर बाहर कैसे निकला जाए—यह बताने ही वाले थे कि अचानक सुभद्रा को झपकी आ गई। अपनी मां के गर्भ में पल रहे अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को भेदकर अंदर प्रवेश की विधि तो सीख ली, पर मां को नींद आ जाने की वजह से बाहर निकलने की विधि से वह अनभिज्ञ रह गया। कालांतर में वही अनभिज्ञता उसकी मृत्यु का कारण बनी।

गर्भस्थ शिशु और वातावरण

एक गर्भस्थ शिशु बाहर की बातें कैसे सीख सकता है? बाह्य वातावरण के प्रकंपनों से गृहीत संस्कार टिकाऊ कैसे बनते हैं? क्या एक भ्रूण की ग्रहणशक्ति इतनी प्रखर हो सकती है? इन सभी प्रश्नों का हल अब तक परंपरागत ढंग से खोजा जाता रहा है। जबकि आज ये बातें विज्ञान की कसौटी पर चढ़ चुकी हैं। आज अमेरिका जैसे विकसित देशों में बाहरी प्रयोगों के द्वारा बच्चों को गर्भ में ही बहुत-कुछ सिखाने की कोशिशें चल रही हैं। कुछ दशक पूर्व ऐसी मान्यता थी कि हमारे व्यक्तित्व का निर्धारण 'जींस' के आधार पर होता है। 'जींस' को बदला नहीं जा सकता—यह एक बद्धमूल अवधारणा थी, पर आज यह अवधारणा बदल चुकी है। वैज्ञानिक क्रेग वेंटर ने अपनी नवीनतम खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि हमारे 'जेनेटिक-कोड' इतने कठोर नहीं होते। उन पर वातावरण का बहुत प्रभाव होता है। हमारे विचारों में होने वाली हर उथल-पुथल गर्भ में पल रहे भ्रूण को भी प्रभावित करती है।

वर्तमान युग में विकास के साथ-साथ तनाव भी बढ़ा है। निरंतर तनाव से घिरा आज का मानव एक विकृत मानसिकता के दौर से गुजर रहा है। विकृत मानसिकता 'गर्भस्थ भ्रूण' पर विपरीत असर डाल सकती है। यही वजह है कि आज बहुत-सारे बच्चे जन्म के साथ अनेक विकृतियां लेकर आते हैं। शारीरिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक दृष्टि से भी विकलांगता का 'ग्राफ' काफी ऊपर उठ रहा है।

निर्माण का इतिहास सदा बलिदान की स्याही से लिखा जाता है। बच्चों का निर्माण भी बलिदान की स्याही से लिखे जाने वाले इतिहास से कम नहीं होता। जो माता चाहती है कि मेरा बच्चा योग्य बने, संस्कार-संपन्न बने—उसे स्वयं भी तपस्या करनी पड़ती है। निर्माण से पूर्व हर मां को अपना आत्म-विश्लेषण अवश्य करना चाहिए। मां यदि स्वयं सही रास्ते पर है, तब बच्चे को दी गई सीख का असर भी सकारात्मक होगा। जिस गलत आदत को अभिभावकों ने खुद पाल रखा है, उसका निषेध कभी भी ज्यादा प्रभावी नहीं होता। बच्चों को वहां विरोधाभास और विसंगति की बू आने लगती है।

14 नवंबर
बाल दिवस पर विशेष

बच्चा जन्म के वक्त अबोध होता है। बहुत-सारी बातों का बोध वातावरण कराता है। एक बच्चा सांप के पास भी चला जाता है और आग में हाथ डालते हुए भी वह भयभीत नहीं होता। धीरे-धीरे वातावरण ही उसे सिखाता है कि कहां डरना चाहिए और कहां नहीं डरना चाहिए। कहां, किससे, कितनी सुरक्षा आवश्यक है, यह प्रशिक्षण आस-पास के वातावरण से ही मिलता है।

गर्भस्थ शिशु के विकास में मां की सजगता

प्रतिस्पर्धा के इस युग में हर मां-बाप का एक सपना होता है कि उनका बच्चा प्रगति की दौड़ में सदा आगे रहे। उसका भविष्य उज्ज्वल, उज्ज्वलतर हो और बच्चा बड़ा होकर अपनी विशिष्ट पहचान बनाए। ऐसा सोचने वाली माताओं को अपने गर्भकाल से ही सजगता बरतनी चाहिए। क्योंकि बच्चों के निर्माण की प्रक्रिया गर्भ से ही प्रारंभ हो जाती है। यह आवश्यक है कि गर्भकाल के दौरान माताएं खान-पान, रहन-सहन के प्रति संयत रहें। कलह और कदाग्रह से दूर रहती हुई निरंतर प्रसन्नता में निमज्जन करती रहें। पवित्र भावधारा और पुलकन-भरे वातावरण में जीने वाली महिलाएं बच्चों के व्यक्तित्व पर सकारात्मक प्रभाव छोड़ती हैं। इसके विपरीत जो माताएं निरंतर कुंठित और अवसादग्रस्त रहती हैं, कलहपूर्ण माहौल में जीती हैं—वे अपनी होने वाली संतति के साथ कभी न्याय नहीं कर पातीं। हमारे प्राचीन आगमों में गर्भकाल के दौरान मां की दिनचर्या, रात्रिचर्या के बारे में सुंदर और अर्थवान दिग्दर्शन मिलते हैं।

कैसी हो गर्भवती महिला की जीवनचर्या?

हमारी आगम श्रृंखला में **ज्ञातधर्मकथा** एक महत्त्वपूर्ण और कथाप्रधान आगम है। इस ग्रंथ के प्रथम अध्ययन में राजा श्रेणिक और महारानी धारिणी के पुत्र राजकुमार मेघ के जीवन का विस्तार से निरूपण है। राजकुमार मेघ जब मां के गर्भ में था, उस समय महारानी धारिणी की चर्या कैसी थी, इसका विवेचन मन को आकृष्ट करने वाला है। इसमें बताया गया है कि महारानी धारिणी संयमपूर्वक बैठती, संयमपूर्वक सोती, संयमपूर्वक खड़ी होती और अपनी हर क्रिया संयमपूर्वक करती।

धारिणी का उस दौरान आहार कैसा था—इस विषय में सूत्रकार ने लिखा है—**नाइतित्त, नाइकडुयं, नाइकसायं, नाहअंनिलं, नाइमहुरं, जं तस्स गन्मस्स हियं मियं पत्थसं देसे य काले यह आहरं आहारेमाणी**—वह आहार करती हुई भी कभी अतितिक्त, अतिकड़वा, अतिकसैला, अतिखट्टा और अतिमीठा आहार नहीं करती। वह वही आहार करती जो देश और काल के अनुसार गर्भ के लिए हित, मित व पथ्यकर होता।

धारिणी की मनोदशा का चित्रण करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं—**ववगयचिंता सोय मोह भय परितासा**—वह चिंता, शोक, मोह, भय और परित्रास से मुक्त रहती हुई विहार करती।

इन सारे विश्लेषणों से यही निष्कर्ष निकलकर सामने आता है कि एक स्वस्थ और संस्कार-संपन्न बच्चे के जन्म लेने से पहले, गर्भावस्था के दौरान मां के द्वारा अनुसृत आचार संहिता की महनीय भूमिका रहती है।

संयुक्त परिवारों में संस्कार निर्माण

जन्म के बाद बच्चे की परवरिश का क्रम प्रारंभ होता है। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, अभिभावकों के दायित्व की सीमाओं का भी विस्तार होता जाता है। एक युग था जब संयुक्त परिवारों की प्रथा थी। कई पीढ़ियां एक साथ एक छत के नीचे रह लेती थीं। उस समय बच्चा सिर्फ मां के संरक्षण तक सीमित नहीं रहता था। परिवार के लिए रीढ़ बनकर जीने वाले बड़े-बुजुर्गों की अनुभवशील व वत्सलतापूर्ण-छांह में पलकर बच्चा कब बड़ा हो जाता—मां को एहसास भी नहीं होता था। इतना ही नहीं, दादी-नानी के द्वारा कही जाने वाली कहानियां भी बच्चे के लिए प्रेरक बोधपाठ का कार्य करती थीं। इससे बच्चों के कोमल मन पर संस्कारों की ऐसी रेखाएं अंकित हो जाती थीं जो बच्चे के लिए आजीवन दिशादर्शक का कार्य करतीं।

क्या सोचती हैं आधुनिक महिलाएं?

विकास के आधुनिक माहौल के साथ-साथ परिस्थितियां बदल गईं। जीने के तौर-तरीकों में भी बदलाव आ गया। फलस्वरूप दायित्व के मानदंड भी बदल गए। प्राचीन मानदंड जहां भुलाए जाने लगे, वहीं अनेक नए मानदंड निर्मित भी हो गए हैं। आधुनिक परिवेश में जीने वाले मां-बाप अब कुछ अलग हटकर सोचते हैं। वे बच्चों को अच्छे से अच्छे स्कूल में प्रवेश दिलाना अपना प्रमुख कर्तव्य मानते हैं और इसके लिए वे लाखों का अनुदान देना भी मंजूर कर लेते हैं। जब बच्चे को अच्छे प्रतिष्ठित स्कूल और हॉस्टल में दाखिला मिल जाता है, तब मां-बाप गहरी आत्मसंतुष्टि का अनुभव करते हैं।

इस कथित आधुनिकता के साथ दूरदर्शिता का योग प्रायः दुर्लभ-सा हो गया है। इसलिए आधुनिक सोच रखने वाले अभिभावक अब बच्चों को इस तरह की सुविधाएं मुहैया कराकर अपने दायित्व की इतिश्री मान लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि बच्चों का सर्वप्रथम विकास वात्सल्य मांगता है। जिन बच्चों को मां-बाप का वत्सलतापूर्ण संरक्षण नहीं मिलता, वे असमय में ही हीनता के शिकार हो जाते हैं। आज बच्चों को 'सुपर-किड' बनाने की होड़-सी लगी हुई है। बच्चा अच्छी तरह से बोलना भी नहीं सीख पाता कि मां-बाप उसे स्कूल भेजना शुरू कर देते हैं। बच्चों की स्वाभाविक रुचि, क्षमता, आकर्षण का आकलन किए बिना ही उससे ऐसी आकांक्षाएं पाल लेते हैं कि जिनके कारण बच्चे आगे जाकर कुंठित हो जाते हैं। अतिदबाव के कारण बच्चा बहुत बार 'एनीमिया', 'डिप्रेशन', 'फोबिया' जैसी बीमारियों की गिरफ्त में आ जाता है।

मनोवैज्ञानिक जार्ज ए. मिलर के अनुसार—आज की भागती-दौड़ती जिंदगी और बढ़ते हुए सामाजिक सरोकारों ने बच्चों को मां-बाप से दूर कर दिया है। पर्याप्त भावनात्मक पोषण और उचित देखरेख के अभाव में बच्चे विकृतियों से घिर जाते हैं और कभी-कभी उचित स्नेह एवं संरक्षण न मिल पाने से आक्रामक भी बन जाते हैं। उनकी याददाश्त कमजोर हो जाती है। बच्चों के असामाजिक बनने की कहानी यहीं से प्रारंभ होती है।

बच्चों के विकास में मां की प्रबुद्धता

बालक की पहली पाठशाला परिवार और पहली शिक्षिका मां होती है। बच्चे के विकास में मां की प्रबुद्धता मील का पत्थर सिद्ध होती है। अच्छे विद्यालयों में प्रवेश से पूर्व 'मां' का 'आई-क्यू' देखा-परखा जाता है। उस बच्चे के प्रति अध्यापक भी आश्वस्त रहते हैं जिसकी मां शिक्षित है। आज की प्रबुद्ध महिलाएं अतीत के खूंटे से बंधकर रहना पसंद नहीं करतीं। वे बच्चे के विकास का पूरा ध्यान रखती हैं। बच्चा किस विषय में कितनी गति मांगता है? विकास के नए मानदंड क्या हैं? कौनसे मानदंड नामशेष हो चुके?—इन सबके आधार पर ही वह बच्चे के विकास की दिशा तय करती है।

जरूरी है संस्कारों का निर्माण

इक्कीसवीं सदी भौतिक विकास के प्रकर्ष की सदी है। आज बाल-पीढ़ी ने भी विकास की दिशा में छलांग लगाने की कोशिश की है। 'टी.वी.', 'कंप्यूटर' और 'इंटरनेट' के युग का बच्चा विद्यालय को अपनी सीमा नहीं मानता। वह विकास के नए सपने देखता है। नए-नए अवसरों की तलाश करता है और पूरे उत्साह से उनका लाभ उठाता है। बड़ी से बड़ी चुनौती भी उसे अपने मार्ग से हटा नहीं पाती। बच्चों की इस सारी विकास-प्रक्रिया में मां की अहम भूमिका रहती है। अपेक्षा सिर्फ यही है कि माताएं विकास के साथ-साथ बच्चे के संस्कारों को अनदेखा न करें। बच्चा दिनभर क्या करता है? वह किनके साथ रहता है? उसकी रुचि और आकर्षण किस ओर हैं? क्या वह समय का सही उपयोग करता है? उसे संस्कारों की सही खुराक मिल रही है या नहीं? इन सारे पहलुओं पर भी मां-बाप की नजर रहनी आवश्यक है।

बच्चों का जीवन कोरे कागज की तरह होता है। इस कथन की सचाई से इनकार नहीं किया जा सकता। कागज का कोरापन बहुत मूल्यवान होता है। उससे भी ज्यादा मूल्यवान वे 'शब्द' होते हैं जो उस पर लिखे जाते हैं। बच्चे के जीवन रूपी कोरे कागज पर जो अक्षर मां लिखती है, वे बच्चे की अमिट भाग्यलिपि बन जाते हैं। इस दृष्टि से माता की जागरूकता बहुत जरूरी है। शिवाजी इसीलिए शिवाजी बन सके कि उन्हें जीजाबाई जैसी मां मिली। जीजाबाई ने शिवाजी को अपने बलबूते पर प्रशिक्षित किया। उनके भीतर संस्कारों की पौध को अंकुरित, पल्लवित किया। उसी का परिणाम था कि शिवाजी ने औरंगजेब के दमनपूर्ण शासन के बीच भी देश के सांस्कृतिक गौरव को न केवल अक्षुण्ण रखा, बल्कि उसे और अधिक विस्तार देने का प्रयास किया। ऐसे अनेक प्रसंग हमारे सामने हैं, जिनको स्मरण किया जा सकता है।

निर्माण से पूर्व आत्म-विश्लेषण करें

निर्माण का इतिहास सदा बलिदान की स्याही से लिखा जाता है। बच्चों का निर्माण भी बलिदान की स्याही से लिखे जाने वाले इतिहास से कम नहीं होता। जो माता चाहती है कि मेरा बच्चा योग्य बने, संस्कार-संपन्न बने—उसे स्वयं भी तपस्या करनी पड़ती है। निर्माण से पूर्व हर मां को अपना आत्म-विश्लेषण अवश्य करना चाहिए। मां यदि स्वयं सही रास्ते पर है, तब बच्चे को दी गई सीख का असर भी सकारात्मक होगा। जिस गलत आदत को अभिभावकों ने खुद पाल रखा है, उसका निषेध कभी भी ज्यादा प्रभावी नहीं होता। बच्चों को वहां विरोधाभास और विसंगति की बू आने लगती है।

दूरदर्शन आज प्रायः हर शहर और गांव-घर तक पहुंच चुका है। परिवार के सभी सदस्यों के लिए यह मनोरंजन और ज्ञानवर्धन का अच्छा माध्यम बन चुका है। बहुधा देखा जाता है कि मां खुद दिन-भर 'टी.वी.' देखती है और बच्चों पर रोक लगाती है। भला बच्चा उस सीख को कैसे मानेगा? घर में कलह का माहौल है, बच्चा भी बात-बात में कलह करना सीख जाएगा। बच्चा वही सीखता है, जो देखता है। उपदेश की अपेक्षा आचरण मन को ज्यादा छूता है। उपदेश की पहुंच और प्रभाव स्थूल मन तक है, जबकि आचरण अंतरमन तक असर करता है। वह अवचेतन मन को भी प्रभावित करता है। परिवर्तन और परिष्कार का आधार अवचेतन मन ही है। अतः मां का दायित्व निभाने वाली महिलाएं पहले अपने संस्कारों को उदात्त बनाएं। अपने व्यक्तित्व का परिष्कार करें। जो करे, वही कहे। जो कहे, उसे पहले स्वयं करके देखे। कथनी और करनी की एकरूपता संस्कारों के निर्माण की प्रमुख शर्त है।

प्रोत्साहन ही नहीं, अनुशासन भी करें

किसी भी परिवार, समाज और राष्ट्र के निर्माण में मां का विशेष योगदान रहता है। माता को निर्मात्री माना गया है। निर्माण का दुरूह दायित्व वही मां बखूबी निभा सकती है, जो कुंभकार को आदर्श रूप में सदा अपने सामने रखती है। कुंभकार घड़ा बनाता है तो बाहर से चोट करता है, पर भीतर से उसे हाथ का सहारा भी देता है। मां बच्चों को भीतर से सदा स्नेह प्रदान करे, पर जरूरत हो तो बाहर से अनुशासन की डोर को कसने से भी न चूके। बच्चे की अच्छाइयों को भरपूर प्रोत्साहन दे, तो उसकी गलत हरकतों पर पूरा अंकुश भी रखे।

एक बच्चा यदि झूठ बोलता है, दूसरों की चीज चुराकर घर ले आता है, मुंह से अपशब्द का प्रयोग करता है, तो मां उसे तत्काल टोके। उसकी हर वृत्ति-प्रवृत्ति का कड़ाई से निरीक्षण करे। उसे बार-बार सही और गलत के भेद का बोध कराए। परिणाम यह होगा कि बच्चे की दिशा बदल जाएगी। गलत दिशा में उठे उसके कदम अपने-आप रास्ता बदल लेंगे।

एक बहुश्रुत किस्से का उल्लेख यहां प्रासंगिक होगा—विद्यालय में अनेक बच्चे साथ-साथ पढ़ते थे। एक बच्चा जब विद्यालय से घर आता तो अपने साथ कभी किसी का पेन चुराकर ले आता तो कभी किसी की कॉपी उठाकर ले आता। मां हर बार उसकी पीठ थपथपाती। जी-भर उसकी सराहना करती। मां की अधिकाधिक प्रशंसा पाने की चाह लिए बच्चा हर रोज कुछ-न-कुछ चुरा लाता। कालांतर में वह शहर का नामी चोर बन गया। इतना ही नहीं, इसके साथ-साथ अन्य भयानक अपराध भी करने लगा। एक दिन पुलिस की गिरफ्त में भी आ गया। एक समय आया कि उसके लिए फांसी की सजा की घोषणा कर दी गई। फांसी का वक्त आया तो उसे अंतिम चाह पूछी गई। उसने अंतिम समय में अपनी मां से मिलने की चाह व्यक्त की। उसकी अंतिम इच्छा पूरी की गई। मां ज्योंही बेटे के सामने आकर खड़ी हुई, बेटे ने गुस्से में आकर मां का नाक काट खाया। लोगों ने कहा—अरे! यह क्या कर रहे हो? मौत के मुहाने पर खड़े होकर भी ऐसा जघन्य कार्य? चोर ने एक बहुत बड़ी सचाई का उद्घाटन करते हुए कहा—'भाइयो! आप लोग जानते नहीं हैं, मुझे फांसी के तख्ते तक पहुंचाने वाली मेरी यह मां ही है। काश! बचपन में मेरी गलत हरकतों को यदि मां प्रोत्साहन नहीं देती, यदि मां मुझे गलत मार्ग से हटाने का प्रयास करती और मुझे अच्छे संस्कारों से संस्कारित करती, तो शायद यह दिन मुझे नहीं देखना पड़ता।'

जीवन की सही खुराक है : संस्कार

जीवन को निरंतर शक्ति प्रदान करने वाला असली 'टॉनिक' है—संस्कार। बच्चों के जीवन रूपी 'प्रासाद' को ऊंचाई तक ले जाने में मां द्वारा प्रदत्त संस्कार नींव का कार्य करते हैं। संस्कारों की खुराक बच्चे की मानसिक और भावात्मक देह को पोषण प्रदान करती है। शरीर, मन-बुद्धि और भाव—इन सभी दृष्टियों से स्वस्थ और समर्थ बच्चा ही सर्वगुण-संपन्न (सुपर किड) कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

प्रोफेसर जीन ह्यूस्टन ने अपनी पुस्तक 'चाइल्ड केयर : इट्स साइकोलोजिकल मीनिंग' में बच्चों के संदर्भ में किए गए प्रयोगों और निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार—'बच्चों का पालन-पोषण करने में मां में एक माली की-सी कुशलता होनी चाहिए। उन्हें इतना अनदेखा न करे कि आवश्यक खाद और पानी भी न मिल सके और देख-रेख में इतनी अति भी न करे कि स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाली हवा और रोशनी भी अवरुद्ध हो जाए।'

शेष पृष्ठ 58 पर

अलौकिकता : अनंत आत्म-शक्ति

मुनि शुभकरण

यह लोक है, यहां अलौकिक जैसा कुछ नहीं है। अलौकिक होने का अर्थ है—व्यवस्थित, प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण न करना। चेतन अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करता और न अचेतन अपने स्वभाव का अतिक्रमण करता है। सब अपनी-अपनी मर्यादा या स्वभाव में रहते हैं। प्रकृति में जो कुछ है, वह सब व्यवस्थित है। उसका कलेवर छोटा नहीं है, बड़ा विशाल और अज्ञेय है। न वह पूर्णतया दृष्टि में आता है और न पूर्णतया जानकारी में। इसलिए साधारण बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए वह अलौकिक या रहस्यात्मक बन जाता है। भगवान महावीर ने कहा—प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म होते हैं, किंतु एक साथ उनका प्रतिपादन संभव नहीं। शब्द का जगत ससीम होता है और धर्म का जगत असीम। ससीम भला असीम का अवगाहन कैसे कर सकता है? अष्टलक्षार्थकाव्य में आचार्य समयसुंदर ने **राजानो ददते सौख्यं**—इन आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ कर अपने अद्भुत प्रतिभा-कौशल का परिचय दिया। बड़े-बड़े विद्वानों के लिए ऐसा करना सहज नहीं है, किंतु उनके लिए यह सहज था। **सुत्ताणं अणंता अत्था**—सूत्र अनंत अर्थों को अपने में समेटे हुए होते हैं। हम उनके कितने अर्थों का उद्‌घाटन कर सकते हैं? इतने लाख अर्थ करने के बाद भी क्या सब अर्थ उद्‌घाटित हो गए?

आत्मा की अपनी दुनिया है। उसके सुख और आनंद अलौकिक हैं। उसमें पर का कोई हस्तक्षेप नहीं। न वहां किसी का दबाव है, न नियंत्रण है। न किसी का शासन है और न किसी मर्यादा का बंधन। वह पूर्ण स्वायत्त है। उसका सुख बिना किसी बाह्य आधार का है। वह पदार्थाश्रयी नहीं है। देवताओं और सम्राटों का सुख भी उसके समक्ष तुच्छ है। भौतिक सुख पदार्थ-सापेक्ष है। पदार्थ के अभाव में वह टिकता नहीं। योगीजनों या आत्मस्थ साधकों का आनंद स्थाई होता है। कहा है—'सदा चिदानन्दपदोपभोगी'—योगी लोग सतत चिदानंद का उपभोग करते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी अपने युग के प्रकांड विद्वान आचार्य थे। सरस्वती का उन पर विशेष अनुग्रह था। अपनी विद्वत्ता पर वे स्वयं गर्वित थे। एक दिन महान आत्म-साधक योगी आनंदघनजी से उनकी भेंट हुई। आनंदघनजी ने पूछा—कितने और कौन-कौन से आगम कंठस्थ हैं? यशोविजयजी ने तपाक से एक-एक कर कई नाम गिनवा दिए। आनंदघनजी ने फिर प्रश्न किया—क्या दशवैकालिक सूत्र याद है? यशोविजयजी ने बड़े दर्प के साथ कहा—आप कैसी बात करते हैं? मुझे सब याद है। आनंदघनजी बोले—मैं दशवैकालिक की प्रथम गाथा के अधिक-से-अधिक अर्थ सुनना चाहता हूं। उपाध्यायजी सहम

गए। अपने चित्त को स्थिर कर वे एक के बाद एक अर्थ करते गए। लगभग बीस अर्थ कर वाणी मौन हो गई। योगिराज ने पूछा—क्या और अर्थ भी हो सकते हैं? वे चुप थे। तब आनंदघनजी ने उसी गाथा के अन्य अर्थ कर पूछा—'क्या ये अर्थ भी हो सकते हैं?' यशोविजयजी विस्मित थे। उनका सिर आनंदघनजी के चरणों में नत था।

एक ही गाथा के अनेक अर्थ करना बौद्धिक क्षमता का बहुत बड़ा उदाहरण नहीं है। यह अलौकिक है, किंतु उन लोगों के लिए जिनका ज्ञान-पट अनखुला है। जिनका ज्ञान-पट उद्घाटित है, उनके लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

अब्रह्मचर्य प्राकृतिक है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी प्राकृतिक है। अब्रह्मचर्य दैहिक स्वभाव है और ब्रह्मचर्य आत्मिक स्वभाव। अब्रह्मचर्य की प्रकृति देहाध्यास की अवस्था में सहज प्रतीत होता है, किंतु जैसे ही कोई व्यक्ति देहाध्यास से ऊपर उठ जाता है, चेतना के जगत में प्रविष्ट हो जाता है—तब वह प्रकृति रूपांतरित होकर ऊर्ध्वारूढ़ हो जाती है। देह-भाव छूट जाता है और आत्मभाव जाग्रत हो जाता है—ब्रह्मचर्य प्राकृतिक बन जाता है। आत्मा का स्वभाव भोग नहीं, पर-पदार्थ में रति नहीं—स्व में रमण उसका स्वभाव है। अलबत्ता पर-रमण के सुख की अपेक्षा स्व-रमण का दिव्य और अलौकिक सुख काल्पनिक-सा प्रतीत हो सकता है।

आत्मा की अपनी दुनिया है। उसके सुख और आनंद अलौकिक हैं। उसमें पर का कोई हस्तक्षेप नहीं। न वहां किसी का दबाव है, न नियंत्रण है। न किसी का शासन है और न किसी मर्यादा का बंधन। वह पूर्ण स्वायत्त है। उसका सुख बिना किसी बाह्य आधार का है। वह पदार्थाश्रयी नहीं है। देवताओं और सम्राटों का सुख भी उसके समक्ष तुच्छ है। भौतिक सुख पदार्थ-सापेक्ष है। पदार्थ के अभाव में वह टिकता नहीं। योगीजनों या आत्मस्थ साधकों का आनंद स्थाई होता है। कहा है—'सदा चिदानन्दपदोपभोगी'—योगी लोग सतत चिदानंद का उपभोग करते हैं। जिन्होंने इसे चखा नहीं, उनके लिए यह कल्पना-लोक की बात है। पर, वे स्वयं इस बात को भूल जाते हैं कि सुषुप्तावस्था में वे भी उसी जगत में सांस लेते हैं। फर्क इतना ही है कि योगीजन जाग्रतावस्था में सांस लेते हैं, विचरण करते हैं और वे गहन निद्रा में।

दूरदर्शन, दूरश्रवण, विचार-संप्रेषण, सूक्ष्म-शरीर से यात्रा करना, भूत-भविष्य की घटनाओं से परिचित होना, एक ही वस्तु को अनेक रूपों का आकार दे देना, जीवित प्राणी को निर्जीव बना पुनरुज्जीवित कर देना, अनेक असंभाव्य घटनाओं को संभाव्य कर दिखाना आदि रहस्यात्मक तत्त्वों की व्याख्या करना सरल नहीं है। ये सब अलौकिक कार्य हैं, किंतु नियम से मुक्त नहीं हैं। इनके पीछे अपने नियम हैं, प्रयोग हैं। जिन्हें इनके नियम ज्ञात होते हैं, उनके लिए ये अतिसाधारण हैं और नियमों से अपरिचित व्यक्तियों के लिए असाधारण हैं। हम अलौकिक या चामत्कारिक कहकर इनसे आंखमिचौनी न करें, किंतु इनकी चाबी क्या है, इसकी खोज करें। चाबी का पता लगने पर ताला खोलने में कोई कठिनाई नहीं होती।

एक फ्रेंच महिला 'अनिर्वाण' नामक साधक के पास रहने लगी। वहां कोई मौखिक बातचीत नहीं होती थी। पांच साल तक वह वहां रही। उसके बाद उसने कहा—आपने मुझे कुछ नहीं कहा, लेकिन मैंने सब-कुछ सुना। साधक ने कहा—मेरी यही इच्छा थी कि किसी को मैं मौन से कहूं। लेकिन, कोई राजी नहीं हुआ। इतने वर्षों तक सब्र कौन करे? आगे उसने लिखा—दो साल चुप बैठकर मैंने उसमें कुछ सफलता प्राप्त कर ली। पांच साल में पूरा सुनाई देने लगा। उसके पश्चात् साधक ने उसे विदा देते हुए कहा—'जाओ, अब काम हो गया। अब तुम कहीं भी बैठकर बात कर सकती हो।' दूरी शब्दों में होती है, मौन में नहीं। स्थूल जगत के लिए क्षेत्र, काल का व्यवधान है, सूक्ष्म के लिए नहीं। सूक्ष्म लोक का जागरण होता है, तब अनेक अलौकिक कार्य संपादित होने लगते हैं। हम उन्हें दैविक घटनाओं की संज्ञा दे देते हैं। किंतु, वे अलौकिक व दैविक कार्य नहीं, अपितु हमारे भीतर के सूक्ष्मलोक की जागृति के कार्य हैं। वैज्ञानिक यंत्रों ने मनुष्य की आकृति के तथा ध्वनि के स्पंदनों को पकड़कर उन्हें टी.वी. पर अंकित कर दिया। हजारों मील दूर बैठे-बैठे भी आज हम उन्हें देख व सुन रहे हैं। विज्ञान अनेक सूक्ष्म धरातलों पर आज काम कर रहा है। अनेक रहस्यों को खोल रहा है, लेकिन योगियों के सामने अभी वह बौना है। यहां हम अलौकिक कार्यों की कुछ बातें करते हैं—

संत नामदेव की उम्र छोटी थी। पिता दामाशेट को बाहर जाना था। वे सदा विट्ठलजी की पूजा करते थे। उन्हें यह चिंता हो गई कि कल पूजा कौन करेगा? अंत में यह निर्णय किया कि बालक 'नामू' (नामदेव) पूजा कर लेगा। नामू पूजा से अभिज्ञ नहीं था। पिता ने कहा और सहर्ष उसने स्वीकार कर लिया। पत्नी गोणाई को भी कह दिया कि ध्यान रखना, पूजा के लिए कल नामू को भेजना। वे चले गए। नामू नदी पर स्नान कर तैयार हो गए। पूजा और भोग की सामग्री लेकर मंदिर में पहुंच गए। भगवान के गले में

माला पहनाई, चरणों में फूल चढ़ाए और भोग की थाली सामने रखी। खड़े-खड़े इंतजार करने लगे कि कब भगवान भोग ग्रहण करें! पत्थर के भगवान भोग नहीं खाते, नामू इस बात को क्या जाने? नामू ने कहा—भगवान जल्दी करो, देर हो रही है। पिता के हाथ का भोग रोज ले लेते हो। मेरे हाथ का क्यों नहीं? तुम भोग नहीं खाओगे तो मैं भी भूखा बैठा रहूंगा। भगवान टस से मस नहीं हुए। नामू ने कहा—अगर भोग नहीं खाओगे तो मैं दीवार से टक्कर खाकर सिर फोड़ लूंगा। नामू ने देखा—मेरी बात का कोई असर नहीं हो रहा है। वह उठा और ज्यों ही टक्कर लेने के लिए दीवार की ओर बढ़ा—देखा, भगवान प्रकट होकर सब भोग खा गए। नामू भोग का पात्र लेकर घर पहुंचा। मां गोणाई ने पूछा—प्रसाद कहां है? उसने कहा—भगवान को बहुत भूख लगी थी, वे सब खा गए। मां ने कहा—कहीं तूने तो नहीं खाया है! झूठ बोल रहा है। नामू ने कहा—'नहीं'। मां को विश्वास नहीं हुआ। 'तेरे पिता को आने दे, सब बात उनसे कहूंगी।' पिता आए। मां ने सब बात सुना दी। पिता ने नामू से पूछा तब वही बात उसने दोहरा दी। पिता ने कहा—कल भी तुझे जाना है, मैं देखूंगा कि क्या बात है? दूसरे दिन नामू पहुंचे। पूजा की। भोग रखा। भगवान प्रकट हुए और भोग ले लिया। पिता दामाशेट ओट में खड़े देख रहे थे। दौड़ते हुए आए और बच्चे को छाती से चिपका कर बोले—बेटा! आज मैं धन्य हूं, तेरे कारण दिव्य शक्ति के मुझे भी प्रत्यक्ष दर्शन हो गए।

रामकृष्ण परमहंस के घटना-प्रसंग भी ऐसे ही हैं। मां काली के साथ उनका यदा-कदा संवाद होता रहता था। उसे वे दिव्य शक्ति के रूप में ही देखते थे। स्वामी विवेकानंद के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था—जैसे मैं तेरे साथ बात करता हूं, वैसे ही प्रत्यक्ष ईश्वर, दिव्य शक्ति के साथ भी करता हूं।

जैन परंपरा के सुप्रसिद्ध आचार्य मानतुंग को भी विवश हो चमत्कार की दुनिया में जाना पड़ा। वाराणसी के राजा हर्षदेव ने उन्हें अड़तालीस तालों में बंद कर दिया। भगवान ऋषभ की भक्ति में आचार्य मानतुंग लीन हो गए और एक-एक ताला टूटता चला गया। अड़तालीस श्लोकात्मक **भक्तामर स्तोत्र**—काव्य की संपन्नता के साथ ही पूरे ताले टूट गए। वे मुक्त हो गए। राजा आदि सभी लोग बड़े विस्मित हुए।

बंगाल के विश्रुत योगियों में श्यामाचरण लाहिड़ी, स्वामी विशुद्धानंदजी, रामकृष्ण परमहंस के नाम बड़े सम्मान और आदर के साथ लिए जाते हैं। श्यामाचरण लाहिड़ी क्रिया-भोग के प्रस्थापक और प्रचारक रहे हैं। अनेक गृहस्थों को क्रिया-योग की दीक्षा देकर उनके जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाया। दिव्य शक्तियों के वे धनी थे। सूक्ष्म शरीर से यात्रा करने की कला भी उनके पास थी। 1895 में उनका स्वर्गवास हुआ।

लाहिड़ी सरकारी सेवा में थे। एक दिन साहब के कमरे में आए। देखा, साहब उदास बैठे हैं। फाइल रखकर चले गए। थोड़ी देर बाद फिर फाइलें लेकर आए। साहब ने कहा—रख दो, आज काम नहीं होगा। उन्होंने पूछा—'क्या बात है साहब? आज आप बड़े उद्विग्न दिखाई दे रहे हैं। कुछ कहने योग्य हो तो कहें।' साहब ने कहा—'पत्नी का पत्र आया है। वह बहुत बीमार है। मैं वहां होता तो उसकी सेवा करता।' लाहिड़ी महाशय ने कहा—'मैं अभी वापिस आता हूं।' लोग उन्हें पगला बाबू, आनंद बाबू के नाम से पुकारते थे। थोड़ी देर बाद पगला बाबू आए और बोले—'साहब! आप चिंता न करें। आपकी पत्नी पूर्ण स्वस्थ हैं। वे आपको आज की डाक में पत्र लिख रही हैं और आज की टिकट बुक कराकर शीघ्र भारत आ रही हैं।' साहब को इस बात पर कोई विश्वास नहीं हुआ। हुआ वही, जो लाहिड़ी महाशय ने कहा था। कुछ दिनों बाद पत्र आया। स्वास्थ्य के समाचार मिले। साहब ने महाशय को बुलाया और कहा—आनंद बाबू! जैसा आपने कहा था वैसा ही हुआ। आपकी बात सच निकली। क्या आप ज्योतिष आदि जानते हैं? लाहिड़ी महाशय हंस दिए। साहब ने कहा—'मैडम को आने दो, मैं आपसे मुलाकात कराऊंगा।' कुछ दिनों बाद मैडम आ गईं। साहब ने बुलाया। कमरे में आते ही साहब ने कहा—'यही है मेरी मैडम!' पगले बाबू को देखते ही आश्चर्याभिभूत मुद्रा में 'माइ गाड' कहकर मैडम उछल पड़ी। साहब ने चौंक कर पूछा—क्या बात है? मेम साहब ने लाहिड़ी महाशय से पूछा—आप कब आए?

साहब ने कहा—'क्या पूछ रही हो, कब आए?'

लाहिड़ी महाशय सब समझ गए। वे बिना कुछ बोले बाहर चले गए।

मेम साहब ने कहा—क्या मैं जादू देख रही हूं। बड़े आश्चर्य की बात है। मैं जब घर में बीमार थी, तब एक दिन यही आदमी मेरे सिरहाने खड़ा होकर सिर पर हाथ फेर रहा था। इसने हाथ का सहारा देकर जब मुझे बिस्तर पर बैठाया

तब मैं पूर्ण स्वस्थ हो गई। इसने कहा—'बेटी! तुम बिल्कुल ठीक हो गई हो। अब तुम्हें कष्ट नहीं होगा। भारत में तुम्हारे पति बड़े बेचैन हैं। उन्हें पत्र लिखकर अभी डाक में डाल दो। भारत जल्दी चली जाओ। कल ही जहाज-कंपनी में सीट बुक कराने का आर्डर भेज दो।'—मैं इन्हें पूछ भी नहीं सकी कि आप कौन हैं? कहां से आए हैं? सब-कुछ सपना-सा था। किंतु आज यहां प्रत्यक्ष देखकर बड़ा विस्मय हुआ। साहब भी यह सुनकर बड़े विस्मित हुए।

स्वामी विशुद्धानंदजी का स्वर्गवास सन् 1937 में हुआ था। महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज उनके प्रमुख शिष्यों में से एक थे। स्वामीजी का जीवन चरित्र उन्होंने बड़े विशदाकार में लिखा है। ज्ञानगंज में बारह वर्ष रहकर स्वामीजी ने तपोयोग की साधना कर अपने सद्‌गुरु से तथा अन्य योगीजनों से सूर्य-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, चंद्र-विज्ञान आदि अनेक विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त किया था। उस ज्ञान-विज्ञान द्वारा अलौकिक कर्तव्यों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर, उनकी भ्रांत तथा मिथ्या धारणाओं को निरस्त किया था। सत्य के प्रति उनमें आस्था उत्पन्न की थी।

विज्ञान स्वयं एक सत्य है। हमें ज्ञात नहीं है, इसलिए वह मिथ्या नहीं है। सूर्य-विज्ञान के द्वारा एक रुई के फोहे को उन्होंने लकड़ी में बदल दिया तथा फिर उसी लकड़ी को पत्थर में परिणत कर अनेक विद्वानों को विस्मय में डाल दिया। एक फूल की कुछ पंखुड़ियों में विविध फूलों की सुगंध पैदा करके तथा कुछ पंखुड़ियों को ठोस रूप में परिणत कर दिया।

वस्तु का जो रूप दृश्य है, वह वही नहीं है। उसमें अन्य अदृश्य रूप भी समाहित हैं। जैन धर्म के इस सिद्धांत का उन्होंने अपने चमत्कारों से प्रत्यक्षीकरण कराया। 'स्यात्' शब्द अपेक्षा का परिचायक है। एक अपेक्षा से भंवरा काला है, किंतु अन्य रंग भी उसमें विद्यमान हैं। फूल गुलाब का ही है, ऐसी नहीं कहना चाहिए। गुलाब के फूल में मोगरा भी है, केवड़ा भी है तथा और-और भी हैं। यदि यह नहीं होता तो एक पंखुड़ी गुलाब की, दूसरी मोगरे की तथा तीसरी किसी अन्य की कैसे होती है? रुई का फोहा ठोस लकड़ी तथा पत्थर के रूप में कैसे परिणत होता?

एक बार एक संन्यासी उनके पास आए। उनके हाथ में शिवलिंग था। स्वामीजी ने उसे हाथ में लेकर ऊपर फेंका। देखते-देखते वह अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया। संन्यासी रोने लग गए। स्वामीजी ने हवा में से पुनः उन टुकड़ों को संगृहीत कर वापिस शिवलिंग बनाकर संन्यासी के हाथों में थमा दिया। एक जीवित चिड़िया को निष्प्राण कर कुछ समय सूर्य-रश्मियों से पुनः उसे जीवित कर दिया।

विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की बात को गप्प कहने वालों के सामने स्वयं स्वामीजी ने अपनी नाभि से कमल उत्पन्न कर उन्हें आश्चर्याभिभूत कर दिया। स्वामीजी ने कहा—अभी सूर्य की धूप तेज नहीं है, वरना यह और भी बड़ा हो जाता। उन्होंने अज्ञान पर प्रहार करते हुए कहा—किन्हीं अगोचर विषयों को कपोल-कल्पित कह उनका मजाक नहीं करना चाहिए। हो सकता है, हम उनके रहस्य से अज्ञात हों।

चमत्कारों में उनका विश्वास नहीं था और न वे चमत्कार करने की भावना से चमत्कार करते थे। चमत्कार-दर्शन के पीछे उनका भाव था लोगों की बद्धमूल मिथ्या धारणाओं को तोड़ना तथा सम्यक् दृष्टिकोण का भाव उत्पन्न करना।

स्वामीजी कहते हैं—'शक्तियां कई प्रकार की हैं। उनमें तीन प्रधान हैं—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति। तीनों में भी इच्छाशक्ति का प्राधान्य है। ज्ञानशक्ति प्राप्त होने के बाद सभी विषयों का ज्ञान हो जाता है। इसमें संदेह नहीं है। क्रियाशक्ति के प्रभाव से सभी प्रकार के कर्तव्य किए जा सकते हैं। ज्ञानशक्ति पैदा होने के बाद प्राकृतिक उपादानों को लेकर ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति कर्म कर सकती हैं। मेरी इच्छाशक्ति के प्रभाव से ही ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति कार्य करती हैं।' यही है विज्ञान। विज्ञान के अनेक भेद हैं—सूर्य-विज्ञान, वायु-विज्ञान, समय-विज्ञान आदि। किंतु इच्छाशक्ति विज्ञान नहीं है।

संत ज्ञानदेव के पिता संन्यासी थे। गुरु ने पुनः गृहस्थाश्रम में भेज दिया। उनके चार संतानें थीं। चारों ही सहज योगी थे। बड़े भाई निवृत्तिनाथ ज्ञानदेव के गुरु थे। संन्यासी के पुत्र होने के कारण समाज ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। उन्हें पुनः समाज में सम्मिलित करने के लिए बड़ा प्रयास किया गया। अनेक विद्वान एकत्रत हुए। अंततोगत्वा यह निर्णय किया कि यदि ज्ञानदेव भैंस के मुंह से वेद मंत्रों का उच्चारण करा दें तो हम उन्हें शुद्धि का प्रमाण-पत्र दे सकते हैं। ऐसा होना उनकी दृष्टि में असंभव था। ज्ञानदेव ने यह शर्त स्वीकार ली। वे भैंस से पास आए। सस्नेह उसके ऊपर हाथ फेरते हुए बोले—'हे ज्ञान के देवता! आप इन सभी समागत पंडितों के सामने अपने श्री-मुख से वेद-मंत्रों का उच्चारण

शेष पृष्ठ 58 पर

दुलाल को दुलाल चोर कहा जाता है, इससे दुलाल को कितना कष्ट होता है

दुलाल की कहानी

नवनीता देवसेन

दुलाल को सब 'दुलाल चोर' कहकर पुकारते हैं। हालांकि बिचारा दुलाल चोर तो नहीं। दुलाल की मां नहीं, पिता दूसरा विवाह कर ससुराल में जा बसा।

इसलिए दुलाल बूढ़े दादा-दादी के पास ही रहता है। दुलाल को 'दुलाल चोर' कहा जाता है इससे दुलाल को कितना कष्ट होता है? उसके दादा अंधे हैं, गोबर थापने वाली दादी की मेहनत का तो कोई अंत ही नहीं, और उसे दुख भी बहुत है।

दुलाल बड़ा शैतान है, उसके चोरी करने का तरीका कोई नया तो नहीं। पूरे गांव के बालक-बालिकाएं ऐसे ही करते रहते हैं। आम पकते हैं तो आम के पेड़ों पर ढेला फेंक आम तोड़ते हैं, अमरूद के पेड़ों पर चढ़कर अधपके अमरूद खाते हैं। कौन नहीं करता ऐसे करम? लेकिन इस कारण उन्हें तो कोई चोर नहीं कहता? केवल दुलाल को ही चोर कहते हैं। क्योंकि अगर पिंटू को कोई चोर कहेगा तो पिंटू की बुआ कमर में फेंटा बांध, दौड़कर झगड़ा करने लगेंगी; अगर गाबू को कोई चोर कहेगा तो गाबू के पिता लाठी लेकर मारने दौड़ेंगे; कानाई को अगर कोई चोर कहेगा तो उसकी दीदी झाड़ू लेकर दौड़ी आएगी। दुलाल के बूढ़े दादा-दादी का झगड़ालू स्वभाव नहीं है। उन्हें मालूम है, उनका दुलाल चोर नहीं है।

दुलाल, गाबू और पिंटू—तीनों गाय चराते हैं। रोज सुबह उठकर वे मैदान जाते हैं। गाय चराते-चराते दुलाल ने न मालूम कैसे एक सफेद-सफेद-सी चीज देखी। झाड़ियों के बीच एक रूमाल पड़ा हुआ था। शायद सुबह कोई तालाब किनारे मैदान आया हो। रूमाल उठाते ही दुलाल को बड़ी अच्छी-सी खुशबू आई। फिर देखा कि एक चौकोर चपटा सोने का बक्सा घास पर पड़ा हुआ है और ओस में भीगी हुई एक माचिस की डिबिया पड़ी हुई है। अरे! कहीं यही तो बड़े दादा बाबू के साढू—भाई का सोने का डिब्बा नहीं है? वही, जिसे वासना दीदी ने चुराया है?

कहानी

दुलाल गाय चराता है। यानी चरवाहा है। मित्ति के घर की गाएं चराता है। उसी मित्ति के घरवालों ने उसका ऐसा गंदा-सा नाम रखा है, फिर भी मित्ति के घरवालों की चाहे जो फरमाइश हो, दुलाल को ही खटना पड़ता है। 'एई दुलाल चोर', वे सब यही कहकर पुकारते हैं—'जा रे बाजार से एक जोड़ी लाल गमछा खरीद लाओ। ये लो चौदह रुपए।' दुलाल लौटकर दो रुपए वापिस करता, बहुत मोल-भाव कर बारह रुपए में लाया है। फिर भी उसे चोर क्यों कहते हैं? शायद, जिस प्रकार श्रीकृष्ण को माखनचोर कहते हैं।

जब बहुत छोटा था, न मालूम क्या सोचकर दुलाल ने गाय के थन से दूध पी लिया था। उस समय बूढ़ी वासना दीदी मित्तियों के तालाब पर बरतन मांज रही थीं, यह देखते ही वे

चिल्लाने लगीं—'बाप रे! कितना बड़ा चोर है। गाय के थन से चोरी-छिपे दूध चूसे ले रहा है? कितना लालची है। कितना बड़ा चोर है।' बस यही चरम था। दुलाल ने जीवन में कभी अपनी मां का दूध तो पीया नहीं था, जन्म देते ही मां स्वर्ग-सिधार गई। उसे यह भी याद नहीं कि उसने छोटी उम्र में गाय का दूध कभी पीया या नहीं। अचानक न मालूम क्या याद आया, तालाब के किनारे मैदान में वासना दीदी के सामने ही तो उसने मजे से दूध पीया था, लेकिन उसे यह समझ ही नहीं थी कि इसमें कोई बुराई है। चोर क्या किसी को साक्षी बनाकर चोरी करते हैं? फिर भी उसी दिन से उसका नाम हो गया 'दुलाल चोर।' वासना दीदी बोली—'सुना है सांप आकर चोरी-चोरी गाय के थन से दूध पी जाता है, लेकिन यह तो कभी नहीं सुना कि मनुष्य ऐसा करते हैं। ये लड़का मनुष्य है या सांप?' मित्तियों के घर की बड़ी मां ने वासना दीदी से सब सुनकर भी दुलाल को हटाया नहीं। केवल बोली—'और ऐसा मत करना बेटा। दूध पीना था तो मुझे बता तो सकते थे? चांद (सफेद) गाय का थन तो तुमने जूठा कर दिया। अच्छा हुआ तुम्हें लात नहीं मारी।' बाप रे! बछड़ा दूध पीता है तो थन जूठा नहीं होता और दुलाल अगर पी ले तो थन जूठा हो जाता है? और सफेद गाय लात मारेगी ही क्यों? दुलाल को वह बहुत अधिक प्यार करती है। लेकिन शर्मीले दुलाल ने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। मां की बात सुन दुलाल चुप ही रहा।

उसी दिन से वासना दीदी दुलाल को 'दुलाल चोर' कहने लगी। इससे दुलाल को बहुत ही दुख हुआ कि किसी को इसमें कोई आपत्ति नहीं हुई। बल्कि उल्टे सबको यह लगा था कि इसमें कोई मजेदार बात है। दुलाल का चेहरा देखते ही प्रेम उमड़ता है। मित्ति बाबू की पत्नी उससे थोड़ा-बहुत स्नेह रखती हैं, यह दुलाल भी जानता है। बात-बात में मुरमुरा और चिउड़ा देती हैं। लेकिन दूध तो कभी नहीं देतीं। इसके अलावा 'दुलाल चोर' नाम? इसमें भी तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की?

मित्ति के घर के मंझले बेटे का विवाह है। वहां बड़ी धूमधाम है। सात दिन से लगातार पटाखे फोड़े जा रहे हैं। कढ़ाह चढ़ा है। गांव-भर के लोगों का चौका-चूल्हा बंद। मित्तियों के घर में हर कमरे में चहल-पहल। सारी लड़कियां ससुराल से आई हैं। सारे दामाद आए हैं। आत्मीय कुटुंबियों से पूरा घर भरा हुआ है। वासना दीदी अकेले तो बर्तन मांज नहीं सकतीं, इसलिए उनके साथ उनके ढेर-भर असिस्टेंट (सहायक) हैं। कंचन दीदी, वीणा दीदी, मनु दीदी, बिंदु दीदी और लक्ष्मी दीदी। दुलाल का भी काम बढ़ गया है। कभी दामादों की फरमाइश तो कभी दीदियों की फरमाइश—दुलाल के छोटे-छोटे पैर दौड़-दौड़कर मानो फटे जा रहे हों। अन्यथा आनंद ही आनंद है।

अचानक लगा कि कोई बड़ा गोलमाल शुरू हुआ है। मामला क्या है? कोलकाता शहर से बड़ी बहू की बहन आई है, विलायत-पलट बड़े दादा बाबू के साढ़ू समेत। उन्हीं लोगों के बीच कुछ गोलमाल हुआ है। दुलाल को इतनी समझ नहीं, उसे इतना सोचने-समझने का समय भी नहीं। उसने सिर्फ देखा कि वासना दीदी की खूब पिटाई हो रही है। नए नौकर-चाकर दूसरे बर्तन मांज रहे हैं, लेकिन चांदी के सारे बर्तन वासना दीदी की देख-रेख में थे। उनमें से ही शायद कोई एक खो गया था।

सब कह रहे हैं, खोया नहीं, वासना ने चोरी की है। उसमें मांजने का क्या था? वो तो बर्तन नहीं, इसके अलावा वह चांदी का भी नहीं। वो तो सोने का सिगरेट-केस है। बड़े दादा बाबू के विलायत-पलट साढ़ू-भाई का सामान है। चांदी की थाली पान और सिगरेट से भरी हुई रखी थी, शायद बड़े दादा बाबू के साढ़ू-भाई ने भूल से उसी थाली पर अपना सिगरेट-केस रख दिया। फिर न मालूम वह कैसे गायब हो गया।

विवाह वाले घर में बड़ी खुसुर-फुसुर होने लगी। दुलाल तक को मालूम हो गया कि वासना दीदी ने कुछ किया है। पान-सिगरेट वाली यह बड़ी थाली तो वासना दीदी ने ही मांजी थी।

लेकिन वासना दीदी सिर्फ रोए जा रही हैं और माथा पीट रही हैं और कहती जा रही हैं कि ऐसा ढक्कनदार डिब्बा तो उन्होंने देखा तक नहीं। खोजो, खोजो, खोजो—पूरा घर उलट-पलट। चौकी के नीचे, संदूक के पीछे, एक-एक कोना छान मारा। लेकिन, सोने का सिगरेट-केस गायब था। वह तो कहीं भी नहीं मिला। इतने गहने-कपड़े हों तो क्या कोई लड़की परिवार की किसी सुरुचिसंपन्न चीज का लालच करेगी? वासना की अगर चोरी करने की इच्छा थी तो क्या गहनों की कोई कमी थी? बड़े दादा बाबू के साढ़ू की चीज तुमने चोरी की? विवाह में घर आए सारे लोग वासना दीदी पर थूकने लगे। बड़ी मां बोलीं, 'वासना, बात चाहे कुछ भी हो, लेकिन अब तुम्हें

रखना मुश्किल है। लोगों को डर लग रहा है।' वासना दीदी रोते हुए चली गई। उनका तो सारा मजा ही किरकिरा हो गया।

दुलाल को दुख हुआ। अगर वासना दीदी ने चोरी न की हो तो? तो फिर झूठमूठ चोरी लगाने से कितना दुख होता है, वह दुलाल को मालूम है। विवाह के हो-हल्ले में सब वासना दीदी को भूल गए। बड़े दादा बाबू के साढ़ू भाई वासना दीदी को पुलिस के हवाले करना चाह रहे थे। बड़ी मां ने कहा, 'नहीं, इस सबकी जरूरत नहीं, मैं तुम्हारे लिए वैसा ही ढक्कनदार डिब्बा बाद में बनवा दूंगी।'

दुलाल, गाबू और पिंटू—तीनों गाय चराते हैं। रोज सुबह उठकर वे मैदान जाते हैं। गाय चराते-चराते दुलाल ने न मालूम कैसे एक सफेद-सफेद-सी चीज देखी। झाड़ियों के बीच एक रूमाल पड़ा हुआ था। शायद सुबह कोई तालाब किनारे मैदान आया हो। रूमाल उठाते ही दुलाल को बड़ी अच्छी-सी खुशबू आई। फिर देखा कि एक चौकोर चपटा सोने का बक्सा घास पर पड़ा हुआ है और ओस में भीगी हुई एक माचिस की डिबिया पड़ी हुई है। अरे! कहीं यही तो बड़े दादा बाबू के साढ़ू-भाई का सोने का डिब्बा नहीं है? वही, जिसे वासना दीदी ने चुराया है?

—'गाबू! पिंटू!', दुलाल देखते ही चिल्लाया। 'देखो, आओ।' गाबू, पिंटू दौड़ आए। 'देखो तो ये क्या है?' सच में—निश्चय ही सोने का ही डिब्बा है। भौंरे-भौंरियां क्या ऐसे डिब्बे में रहती हैं? आह! कितना सुंदर है।

—'चलो, चलें मित्ति के घर चलें, रूमाल समेत डिब्बा लौटा आएं। मैदान में वे निस्तार के लिए आए होंगे। फिर निश्चय ही वे बक्सा, रूमाल, माचिस-वाचिस सब गिरा गए होंगे। शहर के हैं ना, निस्तार के लिए मैदान जाने की तो आदत उन्हें नहीं ही होगी। रूमाल में लपेटी माचिस और सोने का बक्सा लेकर राजाओं जैसी चाल चलते हुए दुलाल सीधे बड़ी मां के पास जा पहुंचा। 'बड़ी मां, बड़ी मां, ये देखो ना हम मैदान से क्या उठा लाए हैं।' विवाह की चहल-पहल तो कम हो चुकी थी, लेकिन सारे आत्मीय स्वजन तब तक गए नहीं थे। बड़ी मां तो गाल पर हाथ रखे बैठी थीं। बोली—'हां रे दुलाल, तुम्हें ये सब कहां मिला?' दुलाल, गाबू और पिंटू एक-दूसरे की तरफ देखकर अंततः बोल ही पड़े—'लगता है कि कोई सुबह-सुबह निस्तार के लिए मैदान गया होगा और मैदान में ये सब चीजें छोड़ आया होगा। निश्चय ही माचिस, रूमाल और सिगरेट-केस ओस में भीगते हुए कई दिनों से मैदान में पड़े रहे होंगे। उन सबने आज देखा है।'

बड़े दादा बाबू तब वहीं थे। अगर सोने का सिगरेट-केस खोकर डांटते-डपटते, पैर पटकते हुए साढ़ू-भाई कोलकाता चले जाते तो क्या होता? बहूरानी बोली, 'हां, यह रूमाल तो उन्हीं का है और यह डिब्बा भी उन्हीं का है।' बहूरानी तो हंसते-हंसते दुहरी हुई जा रही थीं। 'साहेब आदमी है, मैदान जाकर कितनी चीजें संभाल पाएगा बताओ? उन्हें क्या इस सबकी आदत है?' बड़ी मां बोली, 'अगर दस चीजें संभाल न सके तो कोई बात नहीं। लेकिन, इसने तो यह कहकर पूरा घर सर पर उठा लिया कि इसने चांदी की थाली में सोने का डिब्बा रखा है। हम लोगों ने झूठमूठ ही आत्मीय स्वजनों से भरे-पूरे घर से वासना को निकाल दिया....चोर कहकर उसकी बदनामी की। बिना किसी अपराध के किसी को चोरी लगाना क्या ठीक है?'

दुलाल ने मन-ही-मन सोचा, उसके समय में तो बड़ी मां ने ऐसे नहीं सोचा!

बड़ी मां ने दुलाल को ही वासना दीदी के घर भेजा।

इन्हीं कुछ दिनों में चोर करार दिए जाने के कारण वासना दीदी का चेहरा बड़ा करुण हो आया था। दुलाल, गाबू और पिंटू के साथ बड़ी मां के पास आई। डिब्बा देखा। लेकिन वह चुप रही।

बड़ी मां बोलीं—'तुम्हारी गलती बताकर तुम्हें हटा दिया था वासना, लेकिन दुखी मत होना....तुम आज फिर से जैसे यहां रहा करती थी वैसे ही रहा करोगी।' वासना दीदी ने अचानक दुलाल को सीने से लगाया और रो पड़ी।

'यह मेरी ही गलती थी मां। मेरी गलती का फल मुझे मिला। कुछ दिनों से मुझे दुलाल की बात याद आ रही थी। मां-विहीन बालक ने गाय के थन में मुंह लगाया था, उसी दिन से उसका नाम 'दुलाल चोर' पड़ गया था। ईश्वर ने मुझे शिक्षा दी है बड़ी मां। मुझसे बड़ी भारी गलती हो गई थी।'

इस बीच दुलाल भी वासना दीदी की छाती में मुंह छुपा थोड़ा-सा रो लिया। निश्चय ही यह दुख का रुदन नहीं, आनंद का रुदन था। ❖

अनुवाद : **चंद्रकिरण राठी**

हरीश भादानी की कविताएं

चिंता!

जिनकी यही चिरंतन चिंता!
जैसी भी है
देह निमित्त है
उसका होना परम प्राण है,
जिएं प्राण का तेज
तेजस प्राण
चिरंतन चिंता!

केवल मैं
मेरे गुण-अवगुण,
मेरे ही सुख-दुख के चोले
कभी न पहने प्राण-प्रचेता,
प्राण ऊजली धूप
उसे कोई राख न छींपे,
नसों-रगों से परे
गूंजता छंद प्राण का,
छंदस प्राण
चिरंतन चिंता!

वे कवि-द्रष्टा, वे मन-जेता
वे ही हैं आकाश, स्वयंभू,
रहें न कुछ भी शेष—
साध लें अक्षर आखर अर्थ—
अर्थ से एक प्राण की रचना
यही परम सुख, यही मुक्ति है
इतनी एक
चिरंतन चिंता!

(ईशावास्योपनिषद् पर आधारित)

एक चेतना!

केवल एक चेतना!
वही प्राण है, वही जगत है,
धड़के, चले निरंतर,
वही रचाए बाहर, अंतस
इतना बड़ा रचाव!

उसका ही अनवरत संसरण
यह सारा संसार,
तेरे-मेरे, इस-उस-सबके
एक सरीखे ही परिवार,
हम दोनों में हम दोनों-सी
फूलों में फूलों-सी बोले!

केवल मेरा, मैं काटे हैं
मुझको तुमसे
तुमको मुझसे,

इस छलना को झटक यहीं पर
इतना धारें—
मैं तेरी, तू मेरी खातिर
कमज्या के दोनों समभागी,
रम-रमाएं ऐसे ही हम
जिएं एक ही राग!

इतना-सा ज्ञान!

ज्ञानी का इतना-सा ज्ञान!
अलग नाम के
अलग देह के
रचे हुए सारों को देखे
सबमें एक समान!

मुझमें, तुझमें
इसमें, उसमें,
पर्वत में, पानी आगुन में
बसे एक ही प्राण!

इस अनुभव के बाद कहीं भी
शोक नहीं है, मोह नहीं है,
ज्ञानी जिए यही विज्ञान!

(ईशावास्योपनिषद् पर आधारित)

❖❖

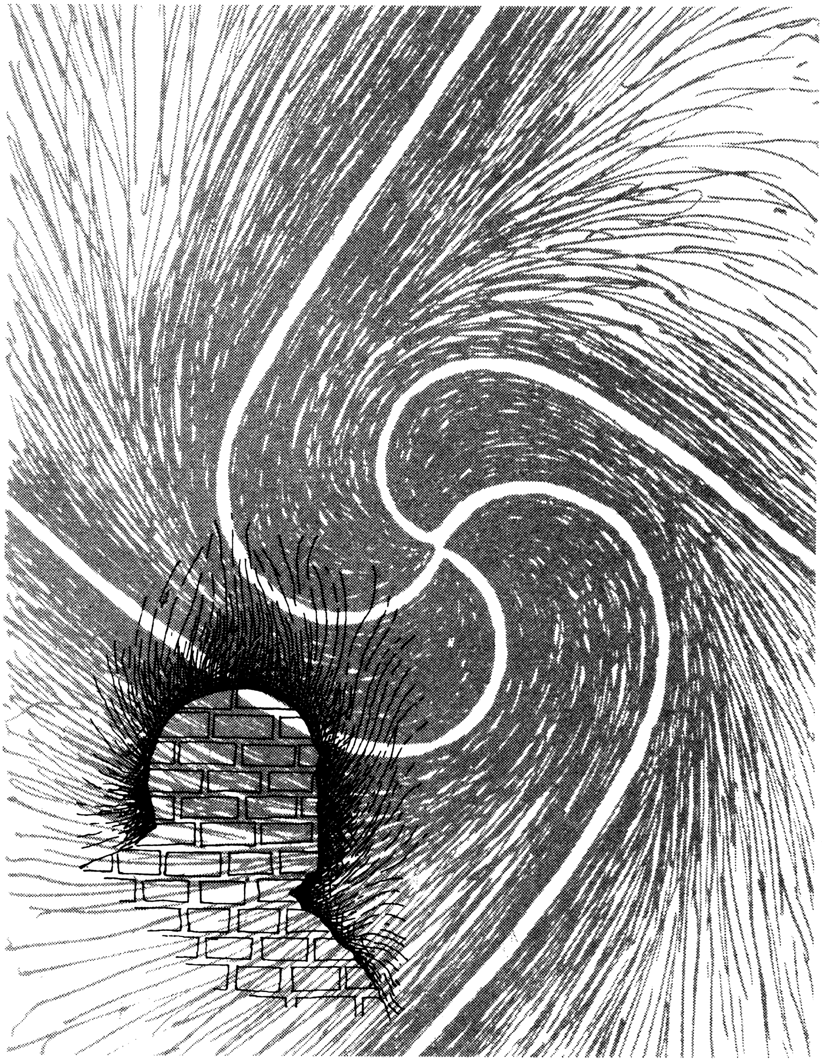

शीलन

जिस तरह आदिम मनुष्य किसी चामत्कारिक घटना की स्मृति में एक दैवी शक्ति के गौरव में उसकी मूर्ति गढ़ लेता था, जो कालांतर में एक देवता की तरह पूजी जाती थी, हालांकि उस तात्कालिक घटना की स्मृति से उसका नाता कब का टूट चुका होता था। उसी तरह शब्द भी एक तरह से 'क्षणिक देवताओं' की तरह हैं; वे एक भावनात्मक स्फुटन के क्षण में जनित होते हैं और उसके बीत जाने के बाद अपना एक स्वायत्त अस्तित्व ग्रहण कर लेते हैं। स्वायत्त केवल सीमित अर्थ में, क्योंकि वे केवल ध्वनि मात्र ही नहीं हैं, अर्थों के संवाहक भी हैं जिनमें प्राक् स्मृति हमेशा जीवित रहती है। भाषा का मिथक से वही संबंध है जैसा आदि-मनुष्य का अपने देवताओं से—दोनों ही उसकी आदिम स्मृतियों और संवेदनाओं को एक स्थाई 'रूपाकार' में परिणत करते हैं।

—**निर्मल वर्मा**

संथारा : जीवन-मरण महत्त्वहीन

मुनि धर्मेश

मृत्यु एक अवश्यंभावी सत्य है। जीवन में इसका उतना ही महत्त्व है, जितना जन्म का। जो जन्मता है उसका मरना निश्चित है। जैन परंपरा में मृत्यु के तीन प्रकार बताए हैं।[1]

बाल-मरण—असंयमी का मरण। जिनके जीवन की अंतिम अवस्था संयम की आराधना से रहित असंयममय होती है। अव्रती, मिथ्यादृष्टि की अवस्था में मरना बाल-मरण है।

पंडित-मरण—संयमी का मरण। जिनके जीवन की अंतिम अवस्था संयममय होती है। मुनि एवं संथारा करने वाले श्रावक इसके उदाहरण हैं।

बाल-पंडित-मरण—संयमा-संयमी का मरण। जिनके जीवन की अंतिम अवस्था कुछ संयम और कुछ असंयममय होती है।

अध्यात्म विज्ञान के अनुसार व्यक्ति के जीवन की अंतिम अवस्था एवं परिस्थितियां उसके भावी जीवन को प्रभावित करती हैं। यदि जीवन के अंतिम समय में धर्म-ध्यान, त्याग-तपस्या रहती है तो आगे सद्गति मिलती है और यदि अंतिम समय में असंयम, आर्त-रौद्र ध्यान रहता है तो दुर्गति मिलती है। इस सिद्धांत एवं विश्वास के कारण जैन मतावलंबियों के लिए यह निर्देश है कि वे अंत समय में संलेखना करें।[2] तात्पर्य यह कि उनकी मृत्यु समाधिपूर्ण अवस्था में जीते हुए हो।

प्रश्न होता है कि अनशन कब स्वीकार किया जाए? जैन परंपरा में इसके समाधान में आयु-सीमा का कोई निर्धारण नहीं किया गया है। यहां एक भावात्मक सीमा का निर्देश है। जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की नई-नई उपलब्धियां होती रहें, अर्थात् जब तक शरीर रूपी साधन से साधना, धर्माराधना होती रहे, निर्जरा होती रहे—तब तक शरीर को धारण करना चाहिए। जब अपने शरीर से कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो अर्थात् रोग व बुढ़ापे से आक्रांत होने पर तथा साधना में असमर्थ हो जाएं, तो उस अवस्था में संलेखना की आराधना कर, शरीर से सर्वथा निरपेक्ष होकर विधिपूर्वक अनशन कर लेना चाहिए।

अनशन कब?

जैन परंपरा में शरीर का पोषण मुख्य लक्ष्य नहीं है। शरीर संसार-समुद्र से पार जाने का साधन है, नाव मात्र है। जिस प्रकार किनारे पर पहुंच जाने के बाद नाव का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार आयुष्य को समाप्त हुआ जानकर जैन क्षमणोपासक अनासक्त-भाव से शरीर का विसर्जन कर देता है।

प्रश्न होता है कि अनशन कब स्वीकार किया जाए? जैन परंपरा में इसके समाधान में आयु-सीमा का कोई निर्धारण नहीं किया गया है। यहां एक भावात्मक सीमा का निर्देश है। जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की नई-नई उपलब्धियां होती रहें, अर्थात् जब तक शरीर रूपी साधन से साधना, धर्माराधना होती रहे,

निर्जरा होती रहे—तब तक शरीर को धारण करना चाहिए। जब अपने शरीर से कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो अर्थात् रोग व बुढ़ापे से आक्रांत होने पर तथा साधना में असमर्थ हो जाएं, तो उस अवस्था में संलेखना की आराधना कर, शरीर से सर्वथा निरपेक्ष होकर विधिपूर्वक अनशन कर लेना चाहिए।[3]

जैन परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है—आमरण अनशन। यह **संथारा** के नाम से अधिक जाना ज़ाता है। संथारे की आगमिक एवं प्राचीन परंपरा के पर्याप्त ज्ञान के अभाव में बहुत बार अनावश्यक विवाद भी खड़ा हो जाता है। जो धार्मिक सद्भावना, सहिष्णुता व सामाजिक समरसता की दृष्टि से उचित एवं लाभदायक नहीं होता।

जैन परंपरा में जीवन और मरण का कोई महत्त्व नहीं है। यहां संयममय, अर्थात् विवेकपूर्वक जीवन और संयममय मृत्यु (पंडित-मरण) का महत्त्व है। सभी धर्म-परंपराओं में अपनी-अपनी दृष्टि से स्वस्थ जीवन की शैली का प्रतिपादन मिलता है, किंतु जैन परंपरा में जीवन के साथ-साथ जीवन के अंतिम समय को निर्भीक होकर समाधिपूर्वक, सभी आकांक्षाओं (मृत्यु की भी आकांक्षा नहीं) से रहित, आत्मलीन होने का विधान मिलता है।

भगवान महावीर के काल में श्रावक द्वारा संथारा ग्रहण

संथारे की परंपरा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना जैन धर्म का इतिहास। यदि आगम युग को ही देखें तो अनेक व्यक्तियों के संथारे का वर्णन जैन आगमों में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर के समय उनके प्रमुख श्रावक आनंद का संथारा इसका उल्लेखनीय उदाहरण है।

आनंद श्रावक एक समृद्ध वणिक् था। उसने भगवान महावीर से बारह व्रत अंगीकार किए। वृद्धावस्था में एक दिन मध्य-रात्रि में वह आत्मचिंतन में लीन था। तभी उसके मन में विचार उत्पन्न हुए—'यद्यपि मेरा शरीर कृश हो गया है और अभी स्मृति, श्रद्धा, शक्ति, धृति और संवेग विद्यमान हैं। इस शरीर का अब कोई भरोसा नहीं, इसलिए जब तक शारीरिक, मानसिक और चैतसिक शक्ति विद्यमान हैं, मुझे इस शरीर का अधिकतम सदुपयोग कर लेना चाहिए। मेरे लिए अब यही उचित है कि अंतिम मारणांतिक संलेखना स्वीकार कर लूं। भोजन, पानी आदि का परित्याग कर दूं और मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए हुए शांत-चित्त से अंतिम काल व्यतीत करूं'।[4]

इस प्रकार चिंतनपूर्वक आनंद श्रावक संलेखना स्वीकार कर उसकी निरतिचार साधना में संलग्न हो गए।

संलेखना के अतिचार

संलेखना एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसकी निर्दोष अनुपालना हो, इसके लिए इसके पांच दोषों से बच कर रहना आवश्यक है[5]—

1. इहलोक संबंधी सुखों की आकांक्षा नहीं करना, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् पद, प्रतिष्ठा, धन, सुख आदि पाने की इच्छा न करना।
2. परलोक संबंधी सुखों की आकांक्षा नहीं करना, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग जाने और दैविक सुख भोगने की इच्छा नहीं करना।
3. लंबे संथारे से प्राप्त यश-कीर्ति आदि के प्रलोभन या मृत्यु के भय से जीने की आकांक्षा नहीं करना।
4. भूख, प्यास या अन्य शारीरिक कष्टों से घबरा कर शीघ्र मर जाने की इच्छा नहीं करना।
5. इस लोक या परलोक में इंद्रिय-विषयों को भोगने की इच्छा या 'अमुक पदार्थ मिले'—ऐसी इच्छा न करना।

संथारा कैसे

भावावेश में किए गए संथारे को मान्यता प्राप्त नहीं है। और न ही यह बलपूर्वक कराया जाता है। संथारे से पूर्व उत्कृष्टतः बारह व्रतों की संलेखना की जाती है। इसमें शरीर के आंतरिक दोष, अर्थात् कषाय को क्रमशः कृश किया जाता है। अपने मनोबल की कसौटी की जाती है और जब हर दृष्टि से तैयारी हो जाती है, तब मार्गदर्शक गुरु तथा परिवार एवं समाज के सदस्यों की साक्षी से व्यक्ति स्वयं विधिवत् प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा स्वीकार करता है।

संथारा आत्महत्या नहीं

सभी धर्म परंपराओं की तरह जैन परंपरा में भी आत्महत्या उतना ही बड़ा पाप है, जितना पर-हत्या। जैन श्रमणोपासक को प्रारंभ से यह प्रशिक्षण मिलता है कि वह आत्महत्या न करे। अतः धर्म की पहली सीढ़ी—'सम्यक्त्व दीक्षा'—ग्रहण करते समय यह संकल्प करता है कि 'मैं आत्महत्या नहीं करूंगा।'[6] जब जैन साधना-पद्धति का मूलाधार ही अहिंसा है, तो संथारे को आत्महत्या कैसे माना जा सकता है?

शेष पृष्ठ 54 पर

आवश्यक सूत्र

❑

साध्वी नगीना

आगम साहित्य में 'आवश्यक सूत्र' का अपना विशिष्ट स्थान है। जैन साधना पद्धति का यह प्राण है। 'आवश्यक सूत्र'—दोष परिमार्जन एवं आत्म-शुद्धि का जीवंत भाष्य है, आत्म-निरीक्षण के सितार पर शोधन के सरगम में आनंद का संगीत है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र से अध्यात्म का आलोक जिससे प्राप्त हो वह 'आवश्यक सूत्र' है।

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सबके लिए 'आवश्यक' का ज्ञान अनिवार्य है।[1] अनुयोग द्वार में 'आवश्यक' के आठ अभिवचन हैं—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्क वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग। इन नामों में किंचित् भेद प्रतीत होने पर भी अर्थाभिव्यंजना में साम्यता है।

'आवश्यक सूत्र' कलेवर में भले छोटा हो, पर सबसे अधिक व्याख्याएं इस पर लिखी गई हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तबक और हिंदी विवेचन। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए अवश्यकरणीय है। नहीं करने वाले श्रमण धर्म-पथ से च्युत हो जाते हैं। यह आवश्यक निर्युक्ति में स्पष्ट है।[2]

जीवन शांति है, सुव्यवस्था है, समाधि है। अज्ञात की यात्रा है। विभाव से स्वभाव की यात्रा है। सरिता से सागर की यात्रा है। विचार, मन और मस्तिष्क की सर्वाधिक सक्रिय ऊर्जा है। ऊर्जा सतत प्रवाही है। ऊर्जा अगर बाहर की ओर प्रवाहित होती है तो ब्रह्मांड के साथ व्यापक हो जाती है। प्रवाह भीतर की ओर मुड़ता है तो समाधि की स्थिति में होता है। समाधि स्थिति है, वृत्ति नहीं। वृत्ति का संबंध मन से है। समाधि मन की यवनिका से बाहर का विहार है। मन के हर विकल्प के पार है।

'आवश्यक' के छह अंग हैं—

1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।

'आवश्यक' का यह क्रम वैज्ञानिक एवं कार्य-कारण भाव पर आधारित है। सर्वप्रथम सामायिक का स्थान है। सामायिक अर्थात् समताभाव। सामायिक समता का लहराता समंदर है।

समता की प्रतिष्ठा किए बिना गुणों के सुमन नहीं खिलते। भीतर में वैषम्य की ज्वालाएं प्रज्वलित हों, वह गुणोत्कीर्तन के लिए योग्य नहीं बनता। न दूसरों के उदात्त गुणों का संग्राही बनकर अर्हता पा सकता है। अतः समता के बाद गुणोत्कीर्तन का स्थान उचित है।

प्रमोद भावना से नम्रता फलित होती है। अहं का विसर्जन होता है। वंदना वही करेगा जो अहं से मुक्त है। वंदना करने वाला स्वयं विनय गुण से विभूषित होता है। वंदना करना नम्रता की अभिव्यक्ति है। नम्रता और ऋजुता सहचारी हैं। धर्म

की पृष्ठभूमि सरलता है। सरल व्यक्ति का जीवन खुली पुस्तक की तरह है। कोई भी कहीं से पढ़ ले। वहां न लुकाव है, न छिपाव है।

सरल व्यक्ति अपने दोषों का प्रतिक्रमण करता है, इसलिए वंदना के बाद प्रतिक्रमण का निरूपण है। प्रतिक्रमण से समस्त वैभाविक परिणतियों से विरत होकर व्यक्ति अन्तर्मुखी बन जाता है। कायोत्सर्ग से चंचलता का निरोध हो जाता है। स्थिरता से प्रत्याख्यान की चेतना जागती है। प्रत्याख्यान को इसीलिए छठे स्थान पर रखा है। यह क्रम व्यवस्थित एवं बुद्धिगम्य है। समता से प्रत्याख्यान तक का सफर विकास का आरोहण है।

'आवश्यक सूत्र' के अन्य दो विभाग भी हैं—द्रव्य और भाव। अन्यमनस्क भाव से उच्चारण करना 'द्रव्य आवश्यक' है। जहां साधना और चेतना का संयोग हो वह 'भाव आवश्यक' है। 'द्रव्य आवश्यक' में केवल यांत्रिक क्रिया है, उससे साधना में तेजस्विता नहीं आती। यह प्राण-रहित साधना है।

'भाव' में उपयोगपूर्वक क्रिया होती है। वह लोकोत्तर साधना है। जीवंत साधना है। जैन धर्म में उसकी मूल्यवत्ता है।

'द्रव्य क्रिया' अंधानुकरण है। पंडितजी प्रतिक्रमण करवा रहे थे। कहां उठना? कहां बैठना? लोग उनका अनुकरण कर रहे थे। पंडितजी को मृगी का दौरा पड़ा। नीचे गिर गए। मुंह पर झाग आ गए। लोग भी यह देखकर सारे गिर पड़े। अनेक प्रयास करने पर भी मुंह पर झाग नहीं आ सके। मन में अनुताप रह गया कि हमारी विधि पूरी नहीं हो सकी। 'द्रव्य क्रिया' में ऐसा ही होता है। 'भाव क्रिया' साधना का जमीनी आधार है।

'भाव क्रिया' समता की पर्याय है। समता से आत्म-शक्तियों को केंद्रित करके महान ऊर्जा को प्रकट किया जा सकता है। द्वंद्वों में संतुलन रखना नहीं आता, वहां तनाव बढ़ता है। व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। समता के अभाव में उपासना उपहास बन जाती है।

भक्ति की भागीरथी प्रवाहित है। साधक उसमें अवगाहन कर अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति कर लेता है। महापुरुषों का जीवन अनेक विशेषताओं का प्रतिष्ठान है। उनके गुण-कीर्तन से हृदय पवित्र होता है। वासनाएं शांत होती हैं। तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर सकता है। तीर्थंकर साधना-मार्ग के आलोक स्तंभ हैं। जिस घर में गरुड़-पक्षी रहता है, वहां सांप नहीं आता। वैसे ही हृदय में वीतराग स्तुति रूप गरुड़ उपस्थित है, तो पापों का सांप आ नहीं सकता। स्तवना से दर्शन की विशुद्धि और श्रद्धा निर्मल बनती है।

विनय जीवन-प्रासाद की नींव की ईंट है। वशीकरण मंत्र है। साधक तीर्थंकर की स्तुति के बाद गुरु को वंदन करता है। गुणों को अपने में संक्रांत करने का माध्यम है—वंदना। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें, ऐसा अबाधित सौभाग्य प्राप्त होता है।

प्रतिक्रमण जैन पारिभाषिक शब्द है। उसकी परिभाषा है—'स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशंगतः तत्रैवक्रमणं भ्रमः प्रतिक्रमणमुच्यते'—अर्थात् प्रमादवश स्वभाव से विभाव में चला गया, पुनः स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है।

आचार्य अकलंक ने प्रतिक्रमण का अर्थ—अतीत के दोषों से निवृत्त होना किया है।[3] हरिभद्रसूरि के अनुसार अशुभ प्रवृत्ति से पुनः शुभ प्रवृत्ति में आना प्रतिक्रमण है।[4]

अशुभ योग से व्रत में छेद उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिक्रमण से व्रत के छेद पुनः निरुद्ध हो जाते हैं। सूत्रकार ने व्रत-छेद निरोध के पांच नाम बतलाए हैं—

1. आश्रव का निरोध हो जाता है।
2. अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चरित्र के धब्बे समाप्त हो जाते हैं।
3. आठ प्रवचनमाताओं में जागरूकता बढ़ जाती है।
4. संयम के प्रति एकरसता या समापत्ति सध जाती है।
5. समाधि की उपलब्धि होती है।

अनादि-काल से मानव कषाय, प्रमाद और अज्ञानवश मूर्च्छा में बाहर-बाहर भटक रहा है। स्व की पहचान नहीं। प्रतिक्रमण नीड़ में लौटने की प्रक्रिया है। अंतर-व्यक्तित्व के विकास की समग्रता है। अंतरंग की खुली आंखों में अनोखे आनंद की खुमार है। भवरोग मिटाने का परमौषध है।

'प्रति' उपसर्ग, 'क्रमु' धातु से निष्पन्न शब्द प्रतिक्रमण है।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा—साधक प्रतिक्रमण में मुख्य रूप से चार बातों का अनुचिंतन करे। इस दृष्टि से उसके चार भेद होते हैं[5]—

1. स्वीकृत नियम-उपनियमों की विशेष शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करे।
2. साधक सजग रहता है, किंतु असावधानी के कारण कभी महाव्रत या अणुव्रत में स्खलना हो गई हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।
3. यदि आत्मा आदि तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होने से अश्रद्धा हो गई हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।

4. हिंसा आदि दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे, असावधानी से हो गया हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।

प्रतिक्रमण केवल अतीत की ही शुद्धि नहीं, भविष्य और वर्तमान की भी शुद्धि का सोपान है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार हैं—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक।

दैवसिक—दिन के अंत में किया जाने वाला।

रात्रिक—रात्रि के अंत में किया जाने वाला।

पाक्षिक—पंद्रह दिन के अंत में अमावस्या, पूर्णिमा के दिन संपूर्ण पक्ष में लगे हुए दोषों की आलोचना के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

चातुर्मासिक—चार माह के पश्चांत् आषाढ़ी, कार्तिकी, फाल्गुनी पूर्णिमा—इन चार मास में लगे हुए दोषों की आलोचना के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

सांवत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा के उनपचास या पचास दिन पूरे होने पर वर्ष-भर में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना।

प्रश्न किया जा सकता है कि प्रतिदिन प्रातः-सायं नियमित प्रतिक्रमण होता है, फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण का विधान क्यों? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि मकान की सफाई दैनिक होती है, तथापि दीपावली आदि पर्वों में विशेष रूप से सफाई की जाती है—वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना हो जाती है और पर्व-दिनों में विशेष रूप से जीवन का निरीक्षण, परीक्षण तथा पाप का प्रक्षालन हो जाता है।

प्रतिक्रमण साधक जीवन की अपूर्व क्रिया है। जीवन की डायरी है, जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर उनसे मुक्त होने का उपक्रम करता है। कुशल व्यापारी वही होता है जो प्रतिदिन अपने आय-व्यय का प्रामाणिक हिसाब रखता है। जैन धर्म की तरह अन्य परंपराओं में भी पाप-मुक्ति के लिए अलग-अलग तरीके हैं—

बौद्ध धर्म में 'प्रावरणा' शब्द का प्रयोग है। बुद्ध ने कहा—'जीवन में निर्मलता के लिए आलोचना कर पाप से मुक्त हो सकता है।'

वर्षावास के बाद भिक्षु संघ इकट्ठा होता है। अपने कृत दोषों का गहराई से निरीक्षण करता है। वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे—यह प्रावरणा है। इसमें दृष्ट, श्रुत, परिशंकित, पापों का परिमार्जन किया जाता है। परस्पर विनय का अनुमोदन होता है।[6]

सर्वप्रथम भिक्षु उत्तरासन को अपने कंधे पर रखकर कुक्कुट आसन में स्थित, हाथ जोड़कर संघ से निवेदन करता है—मैं आपके सामने दोषों का प्रावरणा कर रहा हूं। संघ मेरे अपराधों को बताए, मैं उनका स्पष्टीकरण करूंगा। इसे वह तीन बार दोहराता है। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु, फिर सभी भिक्षु दोहराते हैं। अपने पापों की इस प्रकार पाक्षिक शुद्धि होती है। प्रावरणा चतुर्दशी, पूर्णिमा को की जाती है।

वैदिक धर्म में 'संध्या' का विधान है। यह धार्मिक अनुष्ठान है, जो प्रातः-सायं दोनों समय किया जाता है। इस 'संध्या' में विष्णुमंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाने का विधान है। संध्या में अपने आचरित पाप-मुक्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना की जाती है।

पारसी धर्म में 'खोर देह अवस्ता' ग्रंथ में कहा है—'मेरे मन में जो बुरे विचार उत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग किया हो, शरीर से अकृत्य किया हो, मैंने जो भी दुष्कृत्य किए हों—मैं उनके लिए पश्चात्ताप करता हूं। सरल हृदय से प्रकट करता हूं। उनसे अलग होकर पवित्र होता हूं।'[7]

ईसा ने कहा—'पाप को प्रकट करना आवश्यक है। पाप को छिपाने से वह बढ़ता है। प्रकट करने से कम होता है। नष्ट हो जाता है।'

मुसलमानों में पांच बार 'नमाज' पढ़ने की पद्धति है। पाप-शुद्धि के लिए किसी ने विस्तार से, किसी ने समास से व्याख्या की, पर अनिवार्यता सबमें देखी जाती है।

उक्त सारी क्रियाएं प्रतिक्रमण के समकक्ष ही मानी जाती हैं। उनके पीछे आधार आत्म-शुद्धि का ही है।

वर्ष के तीन सौ साठ दिन होते हैं। उनमें छह तिथि कम हो जाती है। रात्रिक प्रतिक्रमण 354, दैवसिक 329, पक्खी के 21, चौमासी पक्खी के 3 और सांवत्सरिक 1 प्रतिक्रमण होते हैं। प्रतिक्रमण आभ्यंतर स्नान है।

कायोत्सर्ग—प्रमाद से होने वाली भूलों के घाव पर कायोत्सर्ग मरहम है। इसमें देहाध्यास छूट जाता है। देह में रहते हुए भी देहातीत बन जाता है। भेद-ज्ञान का विकास होता है। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशति स्तव का ध्यान किया जाता है।

प्रत्याख्यान—इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिनकी परिगणना संभव नहीं। उन सबका भोग एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं। मानव की इच्छाएं अनंत

हैं। सब-कुछ पा लेना चाहता है। अमित आकांक्षाओं के कारण अशांत है। अशांति-निवारण का उपाय है—'प्रत्याख्यान'।

सामायिक 'हॉस्पिटल' है। तीर्थंकर 'सर्जन डॉक्टर', गुरु 'असिस्टेंट डॉक्टर' और प्रतिक्रमण—पाप की गांठ निकालने के लिए 'ऑपरेशन' है। इसी तरह 'कायोत्सर्ग'—ड्रेसिंग और 'प्रत्याख्यान'—चिकित्सा के बाद दिया जाने वाला 'टॉनिक' है।

प्रगति के नाम पर आज जो-कुछ हो रहा है—उससे मानव व्यथित है, समाज परेशान है, राष्ट्र चिंतित है। अपेक्षा है आज तक जो अतिक्रमण हुआ है, उससे पलट कर पुनः स्वभाव की ओर लौटने की। 'आवश्यक सूत्र' यही संदेश है।

जीवन शांति है, सुव्यवस्था है, समाधि है। अज्ञात की यात्रा है। विभाव से स्वभाव की यात्रा है। सरिता से सागर की यात्रा है। विचार, मन और मस्तिष्क की सर्वाधिक सक्रिय ऊर्जा है। ऊर्जा सतत प्रवाही है। ऊर्जा अगर बाहर की ओर प्रवाहित होती है तो ब्रह्मांड के साथ व्यापक हो जाती है। प्रवाह भीतर की ओर मुड़ता है तो समाधि की स्थिति में होता है। समाधि स्थिति है, वृत्ति नहीं। वृत्ति का संबंध मन से है। समाधि मन की यवनिका से बाहर का विहार है। मन के हर विकल्प के पार है।

विषय-वासनाओं की भाषावली से मुक्त मनुष्य का परम विकास ही परमात्मा की अर्थ-ध्वनि है। समाधि समाधानों का केंद्र है। अतः अपनी सक्रिय ऊर्जा को उपयोगी दिशा प्रदान करें। 'आवश्यक सूत्र' की यही मूल्यवत्ता, गुणवत्ता और अभिव्यक्ति है, प्रेरणा है, संवाद है। ❖

संदर्भ

1. आवश्यक वृत्ति गा. 2, पृ. 53
2. आवश्यक निर्युक्ति गा. 1244
3. वृहद्वृत्ति, पत्र 580
4. आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति
5. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1268
6. महावग्ग पृ. 167
7. खोर देह अवस्ता, पृ. 5/23-24 ❖❖

संथारा : जीवन-मरण महत्त्वहीन

पृष्ठ 50 का शेष

विनोबा भावे का संथारा

जैन परंपरा में 'संथारे' के हजारों उदाहरण मिलते हैं। अन्य विद्वान, जिन्होंने जैन परंपरा को पढ़ा, समझा, उन्होंने भी संथारे के महत्त्व को समझा है। सर्वोदय आंदोलन के प्रवर्तक, भारत के मूर्धन्य गांधीवादी आचार्य विनोबा भावे ने भी जैन विधि से जीवन का अंतिम समय जीया और संथारा किया।

वस्तुतः संथारा मृत्यु का आह्वान या स्वीकरण नहीं, जीवन के अंतिम समय को जीने की आध्यात्मिक कला और विज्ञान है।

जैन धर्म आचार-प्रधान धर्म है। भगवान महावीर की वाणी जैन आचार-परंपरा का आधार है। जैन धर्मावलंबी आगम ग्रंथों से प्राप्त निर्देशों के आधार पर साधना करते हैं। आगम ग्रंथ ही उनकी आस्था के केंद्र हैं। दशवैकालिक सूत्र में यह स्पष्ट निर्देश है कि आगम ग्रंथ के सूत्रों एवं अर्थों के अनुसार आचरण करें।[7]

भारत एक प्रजातांत्रिक देश है। यहां प्रत्येक धर्मावलंबी को अपनी आस्था के अनुरूप धर्माराधना का अधिकार है। इसके अनेक उदाहरण समय-समय पर देखने को मिलते हैं।

आगम ग्रंथ के अनुसार जैन मुनि किसी के पक्ष या विपक्ष में अदालत में गवाही नहीं दे सकता। जबलपुर की एक घटना है—मुनिश्री चंपालालजी को अदालती मुकदमे में गवाह बना दिया गया। बाद में, परंपरा की पूरी जानकारी एवं आगमिक प्रमाणों को प्राप्त कर अदालत ने उस गवाह को निरस्त कर दिया।[8] ❖

संदर्भ

1. ठाणं सूत्र, 3/5/9 तिविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा बाल मरणे, पंडियमरणे, बालपंडिय मरणे।
2. ठाणं सूत्र, 3/497

   (3) कया णं अहं अपच्छिममारणंतिय संलेहणा झूसणा झूसिते भत्तपाणपडिया इक्खिते पाओवगते कालं अणवकखमाणे विहरिस्सामि?
3. उत्तराध्ययन, 4/7

   चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
   लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी।।
4. उपासकदशा, 1/70
5. वही, 1/54
6. अमृतकलश/सम्यक् दीक्षा, पृष्ठ 364
7. दसवैआलियं/चूलिका (2)/11

   सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू।
   सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ।।
8. शासन समुद्र, भाग-12, पृष्ठ 144 ❖❖

नमक की मिठास

शंकर

एक समय की बात है, एक राजा था। राजा को अपने पर बड़ा गर्व था। वह सदा अपने आकर्षक व्यक्तित्व, अपनी बुद्धि, अपनी सफलता तथा एक बड़ा शासक होने की बातें करता। वह चाहता था कि उसके आस-पास के लोग उसकी बातों पर विश्वास करें और उसकी तारीफ के पुल बांधते रहें। उसे वही लोग अधिक पसंद थे जो उसकी प्रशंसा करते और वह सदा अपने मुंह-लगे लोगों की संगत में ही दिखाई देता।

राजा के तीन लड़कियां थीं। एक दिन उसने अपने प्रति उन तीनों के प्रेम की परीक्षा लेनी चाही। उसने उन्हें अपने पास बुलाया।

'मेरी प्यारी बच्चियो', वह बोला—'लोग कहते हैं कि मैं बहुत बड़ा राजा हूं। वे मुझे प्यार भी करते हैं और इतना सम्मान भी कि मेरे लिए अपनी जान भी देने को तैयार हैं। वे हर समय मेरी प्रशंसा के गीत गाते हैं। लेकिन, मैं यह जानना चाहता हूं कि मेरी अपनी लड़कियां मेरे बारे में क्या राय रखती हैं? अब तुम मुझे बताओ कि तुम मुझे कितना और किस तरह का प्यार करती हो?'

वह अपनी सबसे बड़ी लड़की की ओर पहले मुड़ा—उसका उत्तर जानने के लिए।

'पिताजी, मैं आपको बहुत प्यार करती हूं', वह बोली—'मेरा प्यार आकाश की तरह अनंत और सोने की तरह शुद्ध है।'

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। तब उसने अपनी दूसरी लड़की से पूछा कि वह क्या कहती है।

'पिताजी, मैं आपको बहुत प्यार करती हूं', दूसरी लड़की ने उत्तर दिया—'आपके लिए मेरा प्यार समुद्र की तरह असीम है और जवाहरातों की तरह मूल्यवान।'

राजा प्रसन्नता से हंस पड़ा। तब उसने अपनी सबसे छोटी लड़की की ओर देखा।

राजा भोजन के लिए बैठ गया। सोने के कटोरों में तरह-तरह की चीजें उनके सामने रख दी गईं। राजा को भूख लग रही थी। उसने एक कटोरे में से एक ग्रास खाया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि खाने में नमक नहीं था। उसने दूसरे कटोरे में से भी सब्जी चखी—वह भी बिना नमक के थी। इस तरह उसने एक कटोरी के बाद दूसरी कटोरी में से भोजन चखा, लेकिन नमक सब में गायब था।

बालकथा

'तुम क्या कहती हो?' उसने पूछा—'तुम मुझे कितना प्यार करती हो?'

तीसरी लड़की लज्जालु थी। वह अपने पिता के प्रश्न का उत्तर न दे सकी। राजा उसे बार-बार पूछने लगा कि वह अपनी बहिनों से भी अधिक अच्छा कुछ कहे।

'पूज्य पिताजी', आखिर में छोटी लड़की ने उत्तर दिया—'मेरा प्यार ऐसा ही है जैसा कि एक बेटी का अपने पिता के लिए होता है।'

'लेकिन फिर भी तुम मुझे कितना प्यार करती हो?' राजा ने फिर पूछा—'तुम्हारा प्यार किस तरह का है?' तीसरी लड़की सोचने लगी और फिर बोली—'पिताजी, मैं इतना ही कह सकती हूं कि मैं आप को उतना ही प्यार करती हूं जितना कि आप और मैं, नमक को करते हैं।'

'क्या?' राजा कड़क कर बोला—'मुझे तुम केवल साधारण नमक के बराबर प्यार करती हो?'

'हां, पिताजी',—उसने उत्तर दिया।

'तुमने यह कहने की हिम्मत कैसे की कि तुम मुझे साधारण नमक के बराबर प्यार करती हो?' राजा गरजा—'क्या मैं इतना सस्ता हूं? तुम तत्काल अपने शब्द वापिस लो, नहीं तो तुम्हारे लिए अच्छा न होगा।'

'लेकिन पिताजी', राजकुमारी बोली—'इससे और अच्छा तरीका मेरे पास नहीं है, जिससे मैं अपना प्यार प्रकट कर सकूं।'

राजा क्रोध से लाल-पीला हो गया। 'मुझे इस तरह अपमानित करने का फल तुम भुगतोगी।'—वह बोला। उस दिन से राजा ने अपनी छोटी लड़की से सब तरह का संबंध तोड़ दिया। वह उसकी ओर देखता तक नहीं था।

समय गुजरता गया। राजा ने अपनी दोनों बड़ी लड़कियों के विवाह दो राजाओं के साथ कर दिये और उन्हें ढेर-सारा दहेज भी दिया।

तीसरी राजकुमारी अब अकेली रह गई। रानी ने एक दिन छोटी लड़की का विवाह भी तय करने के लिए राजा से कहा।

'उस बेवकूफ लड़की का विवाह?' राजा बोला—'जरा रुको, और देखो उसका विवाह मैं किस तरह से करता हूं।'

कई दिन बाद राजा सड़क से गुजर रहा था। वहां पर उसे एक भिखारी दिखाई दिया। राजा ने उसे अपने साथ महल में बुलाया।

'तुम कौन हो?' राजा ने पूछा—'सड़क पर तुम क्या कर रहे हो?'

'मैं खाने के लिए भिक्षा मांग रहा हूं', भिखारी ने उत्तर दिया—'कई दिनों से मुझे कोई काम नहीं मिला है।'

'तुम भिखारी हो। यह बड़ा अच्छा है',—राजा बोला, 'मैं तुम्हारा विवाह एक राजकुमारी से कर दूंगा। तब तुम दोनों इकट्ठे भीख मांग सकते हो।' राजा ने अपनी छोटी लड़की का विवाह उस भिखारी से कर के उसे विदा कर दिया।

राजकुमारी ने अपना दंड बिना एक शब्द कहे हुए स्वीकार कर लिया। अपनी दशा पर उसे जरा भी अफसोस न था। वह जानती थी कि अब वह राजकुमारी नहीं रही। न उसके पास अब धन था और न हैसियत। जो कुछ था, वह था पति के रूप में एक भिखारी।

लेकिन, वह एक बहादुर लड़की थी और किसी भी स्थिति या कठिनाई का सामना करने के लिए तैयार थी।

सबसे पहले वह अपने पति के बारे में जानना चाहती थी कि वह कौन था।

पति ने बताया कि वास्तव में वह भिखारी नहीं। वह इस शहर में नया था और काम खोज रहा था। जब उसे कोई काम नहीं मिला तो लाचार होकर उसे एक दिन भोजन के लिए भिक्षा मांगनी पड़ी। उसी समय राजा ने उसे पकड़वा लिया।

नवयुवक बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। एक वीर और चतुर लड़की को अब पत्नी के रूप में पाकर अपनी स्थिति को सुधारने के लिए वह किसी भी कठिनाई से जूझने को तैयार था।

नवयुवक और उसकी पत्नी शहर से बहुत दूर छोटी-सी झोंपड़ी में रहने लगे। पत्नी ने कुछ गहने पहने

हुए थे। उसने अपने सब गहने बेच दिए और उन पैसों से एक नया जीवन आरंभ किया।

थोड़ी-सी जमीन उन्होंने किराए पर ली और उस पर खेती करने लगे। फसल अच्छी हुई। अब उन्होंने और जमीन ले ली। वहां पर भी भरपूर फसल हुई। इस तरह खूब परिश्रम से काम करने से धीरे-धीरे उन्होंने अपनी खेती बहुत बढ़ा ली।

कुछ ही वर्षों में उन्होंने इतना पैसा जमा कर लिया कि आस-पास की खेती की सारी जमीन खरीद ली। धीरे-धीरे वे धनी और संपन्न हो गए। कुछ ही समय बाद उन्होंने अपना मकान भी बनवा लिया। उन्होंने अपना परिश्रम साहस और दृढ़ता के साथ जारी रखा। कुछ वर्षों में उनके पास बहुत-सी जमीन और बड़े-बड़े भवन हो गए।

अब उन्होंने अपने लिए एक बड़ा-सा महल बनवाया और उसमें राजा की तरह बड़े ठाट और आराम से रहने लगे।

इस समय तक उनकी सामाजिक स्थिति भी बड़ी अच्छी हो गई थी। वे अपने घर पर शहर के प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण लोगों को निमंत्रित करने लगे थे।

एक दिन उन्होंने राजकुमारी के पिता—राजा—को भी अपने यहां खाने पर निमंत्रित किया। राजा ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। राजा इस बात से अनजान था कि वह अपनी लड़की के यहां ही खाने पर जा रहा है।

भोज बड़ा शानदार था। राजा और बाकी सब अतिथि इस आयोजन से बड़े प्रभावित हुए थे। गृहपति और गृहिणी अपने अतिथियों की देखभाल बड़ी शिष्टता और सुंदर ढंग से कर रहे थे। जैसे ही राजकुमारी अपने पिता के नजदीक पहुंची, उसने अपना घूंघट काफी नीचा कर लिया और फिर उन्हें भोजन के लिए बैठने का आग्रह किया।

राजा भोजन के लिए बैठ गया। सोने के कटोरों में तरह-तरह की चीजें उनके सामने रख दी गईं। राजा को भूख लग रही थी। उसने एक कटोरे में से एक ग्रास खाया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि खाने में नमक नहीं था। उसने दूसरे कटोरे में से भी सब्जी चखी—वह भी बिना नमक के थी। इस तरह उसने एक कटोरी के बाद दूसरी कटोरी में से भोजन चखा, लेकिन नमक सब में गायब था।

राजा को बड़ा गुस्सा आया। उसने अपने चारों ओर निराशा से देखा। बाकी अतिथि मजे से भोजन का आनंद ले रहे थे। घूंघट निकाले गृहिणी फिर राजा के नजदीक आई।

'महाराज'—उसने बड़े मीठे स्वर में पूछा— 'क्या आपको हमारे यहां का भोजन अच्छा नहीं लगा?'

'तुम्हारा खाना अच्छा लगे?' राजा गरजा—'ऐसा खाना मेरे सामने परोसने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई? यह खाना बिना नमक के पकाया गया है! तुमने मुझे ऐसा खाना परोस कर मेरा अपमान किया है।'

गृहिणी ने तब अपना घूंघट उठाया। 'तो आपको नमक अच्छा लगता है?' वह बोली—'आपको बहुत पसंद है? निःसंदेह आपके लिए वह सोने और जवाहरातों से भी अधिक मूल्यवान है?'

राजा ने गृहिणी की ओर देखा। वह आश्चर्य से देख रहा था कि यह कौन है? अचानक उसने पहचाना। अरे, यह तो उसकी तीसरी लड़की ही उसके सामने खड़ी है! वह कुछ न कह सका। पहली बार उसने अनुभव किया कि आदमी के लिए सस्ता और साधारण नमक सोने और जवाहरातों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'मेरी बच्ची', राजा ने राजकुमारी को प्यार करते हुए कहा—'मेरी मूर्खता के लिए तुम अब क्षमा कर दो।'

राजा ने छोटी लड़की से जैसा व्यवहार किया था, अब उसके लिए वह लज्जित था।

अब वह अपनी गलती को किसी तरह सुधारना चाहता था। उसने छोटी राजकुमारी और उसके पति को अपना सारा राज्य दे दिया। फिर वे सब आनंदपूर्वक रहने लगे। ❖

पालनहार मां : कर्णधार बच्चा

ह्यूस्टन ने अपनी पुस्तक में कुछ ऐसे बिंदु निर्दिष्ट किए हैं जिन पर हर मां-बाप को ध्यान देना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

1. आप बच्चों के लिए जीवंत आदर्श बनें। बच्चों के समक्ष वे कार्य कभी न करें जिनके लिए आप उनको रोकते हैं।
2. बच्चों की हर जायज-नाजायज मांग पूरी करने के बजाय धीरे-धीरे उन्हें सही और गलत का बोध अवश्य कराएं।
3. जीवन के व्यावहारिक विषय, जैसे उठने, बैठने, चलने, दूसरों के साथ बातचीत करने के सही तौर-तरीकों व शिष्टाचार आदि के बारे में रोज थोड़ा-थोड़ा बताएं।
4. बच्चों को बात-बात में झिड़कें नहीं। अनजान लोगों के सामने उनको कभी भी अपमानित न करें।

पृष्ठ 38 का शेष

5. अच्छा काम करने पर बच्चों को प्रोत्साहित जरूर करें।
6. बच्चों की रचनात्मक प्रतिभा को विकसित करने का प्रयास करते रहें।

इन सब दृष्टियों से ध्यान दिया जाए तो शैतानी और शरारत में खपने वाली बच्चों की ऊर्जा को सृजनात्मक गतिविधियों में बदला जा सकता है। इसके फलस्वरूप बच्चों की प्रतिभा में आश्चर्यजनक बढ़ोतरी हो सकती है। अपेक्षा है—बच्चों की पालनहार माताएं सतत जागरूक रहें। मां की जागरूकता बच्चे के जीवन को नई रोशनी प्रदान करती है। आज का बच्चा कल का कर्णधार है। बाल-पीढ़ी जितनी समर्थ होगी राष्ट्र के भविष्य की तस्वीर उतनी ही सुंदर होगी। ❖

अलौकिकता : अनंत आत्म-शक्ति

पृष्ठ 42 का शेष

कर प्रमाणित कर दो कि हम शुद्ध हैं।' बस, ज्ञानदेव के कहते ही भैंस के मुख से वेद-मंत्रों की ध्वनि होने लगी। सब पंडित अवाक् रह गए। चारों को शुद्धि का प्रमाण-पत्र मिल गया। जनता की दृष्टि में वे स्वयं ही शुद्ध हो गए।

अलौकिक घटनाओं की शृंखला छोटी नहीं है। बहुत लंबी है। हजारों-हजारों घटनाएं इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। पारंपरिक अनुश्रुतियां भी कम नहीं हैं। वर्तमान में भी ऐसी दिव्य घटनाएं घटती हैं। अनेक साधक दिव्य घटनाओं के सर्जक हैं। हम उन्हें कल्पित या जादुई नहीं कह सकते। जादूगरी अलग है और साधना-जन्य सिद्धियां, शक्तियां अलग हैं। साधक जादूगर नहीं होते। उनके पास तपोबल, मंत्रबल और साधनाबल होता है। शक्तियां कृच्छ् साधनाबल से प्राप्त होती हैं। सिद्धियों का रहस्य क्या है? कारण और कार्य की शृंखला का अभिज्ञान आवश्यक है। इस पर भी हम संक्षेप में विचार करेंगे।

विशिष्ट विभूतियों और शक्तियों के धनी तथा सुदीर्घ आयु प्राप्त तैलंग स्वामी के शब्दों का उल्लेख इस प्रसंग में सटीक खरा उतरता है। रामतारण भट्टाचार्य नामक एक ब्राह्मण तैलंग स्वामी की बड़ी भक्ति करते थे। एक बार उन्होंने देखा—स्वामीजी अदृश्य हो गए हैं। एक नाव नदी के बीच डूब रही है। वह घाट पर लगी और स्वामीजी भी उससे उतर रहे थे। इस प्रसंग को लेकर रामतारण ने तैलंग स्वामी से इस अलौकिक योग विभूति का रहस्य जानना चाहा। स्वामीजी ने कहा—'रामतारण, इसमें आश्चर्यचकित होने की कोई बात नहीं है। सब मनुष्यों में ऐसी शक्ति सुषुप्त रहती है। उसे जाग्रत करने पर सब-कुछ सिद्ध हो सकता है। इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है। प्रकृत स्वभाव से च्युत होकर ही मनुष्य अस्वाभाविक बन गया है। यही कारण है कि जो उसकी अतिस्वाभाविक शक्ति है, उसे अलौकिक एवं अस्वाभाविक समझ कर वह विस्मित होता है।'

'आत्मा अनंत शक्तिसंपन्न है'। सभी धर्म इस परम सत्य को स्वीकारते हैं। जहां कहीं, जो कुछ भी, शक्ति का स्फुलिंग आता है, वह सब आत्म-शक्ति का एक छोटा-सा कण है। वह शक्ति अनेक उपायों से अभिव्यक्त होती है। उनका वर्गीकरण कुछ इस प्रकार किया जा सकता है—

1. असीम इच्छा-शक्ति। 2. सतत नाम-जप। 3. किसी विशिष्ट इष्ट में स्वयं का सर्वथा समर्पण या विलीनीकरण। 4. चित्त का सहज निर्मलीकरण। 5. अंतरंग मौन का सघन अभ्यास। 6. तपोयोग का अभ्यास। 7. योगजन्य शक्ति। 8. सद्गुरु द्वारा शक्ति-संप्रेषण। 9. सद्गुरु का शुभाशीर्वाद। 10. मंत्र-साधना का बल। 11. तांत्रिक प्रयोग। 12. यांत्रिक प्रयोग। 13. विविध वनस्पतियों की विशिष्ट शक्ति।

आवश्यकता है अपनी छिपी आत्म-शक्ति के जागरण की, न कि अलौकिक शक्ति की बुभुक्षा की। लक्ष्य है—आत्म-शक्ति। चमत्कार या विभूतियां स्वतः प्राप्य हैं। ❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक मंगल कामना

कोबा (गांधीनगर)
पि. ३८२ ००९

एक शुभ चिन्तक

प्रेषण दिनांक 3 नवंबर, 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004-06
जैन भारती, नवंबर, 2006 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।